कर्नाटक राज्य मुक्त विश्वविद्यालय
मुक्तगंगोत्री, मैसूरु-570006.
KARNATAKA STATE OPEN UNIVERSITY
Muktagangotri, Mysuru-570006.

हिंदी अध्ययन एवं अनुसंधान विभाग

प्रथम एम. ए. (हिंदी), प्रथम सत्र

(सी.बी.सी.एस पाठ्यक्रम)

Department of Studies and Research in Hindi

Previous M.A. (Hindi), I Semester

(CBCS Syllabus)

हिंदी साहित्य का इतिहास

(आदिकाल से भक्तिकाल तक)

History of Hindi Literature

(Aadikal to Bhaktikal)

कोर्स: MHNHC 1.1

ब्लॉक: 1

Course: MHNHC 1.1

Block: 1

कर्नाटक राज्य मुक्त विश्वविद्यालय

मुक्तगंगोत्री, मैसूरु-570006.

KARNATAKA STATE OPEN UNIVERSITY

Muktagangotri, Mysuru-570006.

हिंदी अध्ययन एवं अनुसंधान विभाग

प्रथम एम. ए. (हिंदी), प्रथम सत्र

(सी.बी.सी.एस पाठ्यक्रम)

Department of Studies and Research in Hindi

Previous M.A. (Hindi), I Semester

(CBCS Syllabus)

हिंदी साहित्य का इतिहास

(आदिकाल से भक्तिकाल तक)

History of Hindi Literature

(Aadikal to Bhaktikal)

कोर्स: MHNHC 1.1

ब्लॉक: 1-4

Course: MHNHC 1.1

Block: 1-4

प्रस्तावना

प्रिय अध्येता,

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि, आपने प्रथम वर्ष एम.ए. प्रोग्राम में हिंदी को एक विषय के रूप में चुना है। अत: हिंदी विभाग आपका हार्दिक स्वागत करता है। एम.ए. हिंदी के द्विवर्षीय (सी.बी.सी.एस) प्रोग्राम में कुल मिलाकर 20 विषय (कोर्सेस/ पत्रिकाएँ) होते हैं। उनमें से एम.ए. प्रथम वर्ष के प्रथम सत्र में आप पाँच विषयों का अध्ययन करेंगे।

1) हिंदी साहित्य का इतिहास

2) आधुनिक हिंदी काव्य

3) भाषा विज्ञान एवं हिंदी भाषा का इतिहास

4) आधुनिक हिंदी गद्य साहित्य

5) प्रयोजनमूलक हिंदी .

शेष विषयों का अध्ययन आप, एम.ए. के द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ सत्र में करेंगे। प्रत्येक विषय (कोर्स/पत्रिका) के लिए 100 अंक निर्धारित हैं।

प्रथम वर्ष एम.ए. हिंदी (प्रथम सत्र) कोर्स/पत्रिका-I हिंदी साहित्य का इतिहास के अंतर्गत कुल 04 ब्लॉक का अध्ययन करेंगे। आप प्रस्तुत 01-04 ब्लॉक में हिंदी साहित्य का इतिहास से संबंधित 16 इकाईयों का अध्ययन करेंगे। इससे आपकी अध्ययनशीलता बढेगी साथ ही साथ आपका ज्ञानवर्धन भी होगा। परिणामस्वरुप उच्च शिक्षा की दृष्टि से तथा अन्य स्पर्धात्मक परीक्षाएँ जैसे- नेट, स्लेट, आई.ए.एस., आई.पी.एस. आदि की दृष्टि से यह जानकारी बहुपयोगी होगी।

डॉ. प्रभुसेन डी
विभागाध्यक्ष
हिंदी अध्ययन एवं अनुसंधान विभाग
कर्नाटक राज्य मुक्त विश्वविद्यालय
मुक्तगंगोत्री, मुक्तगंगोत्री

पाठ्यक्रम अभिकल्प तथा संपादकीय समिति

प्रो.शरणप्पा वि. हलसे कुलपति कर्नाटक राज्य मुक्त विश्वविद्यालय मुक्तगंगोत्री, मैसूरु-06	**प्रो. एन.लक्ष्मी** डीन (शैक्षिक) कर्नाटक राज्य मुक्त विश्वविद्यालय मुक्तगंगोत्री, मैसूरु-06
समन्वयक	**डॉ. प्रभुसेन डी** विभागाध्यक्ष कर्नाटक राज्य मुक्त विश्वविद्यालय मुक्तगंगोत्री, मैसूरु-06

	नाम और पता	ब्लॉक संख्या	ब्लॉक संख्या
पाठ लेखक	**डॉ. प्रभुसेन डी** विभागाध्यक्ष कर्नाटक राज्य मुक्त विश्वविद्यालय मुक्तगंगोत्री, मैसूरु-06	**01-04**	**1-16**
संपादक	**प्रो. शेखर** प्रोफ़ेसर एवं विभागाध्यक्ष हिंदी विभाग बेंगलुरू विश्वविद्यालय बेंगलुरू		
प्रकाशक	**प्रो.के.एल.एन मूर्ती** रजिस्ट्रार कर्नाटक राज्य मुक्त विश्वविद्यालय मुक्तगंगोत्री, मैसूरु-06		

© कर्नाटक राज्य मुक्त विश्वविद्यालय, मैसूरु के शिक्षा अनुभाग द्वारा निर्मित। सभी अधिकार सुरक्षित। कर्नाटक राज्य मुक्त विश्वविद्यालय से लिखित अनुमति प्राप्त किए बिना, इस कार्य के किसी भी अंश की किसी भी रूप में अनुलिपित या किसी अन्य माध्यम द्वारा प्रतिकृति न की जाए। कर्नाटक राज्य मुक्त विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम पर अधिक जानकारी विश्वविद्यालय के कार्यालय, मुक्तगंगोत्री,मैसूरु-06 से प्राप्त की जा सकती है। कर्नाटक राज्य मुक्त विश्वविद्यालय की ओर से रजिस्ट्रार (प्रशासन) द्वारा मुद्रित व प्रकाशित।

विषयानुक्रमणिका

इकाई संख्या	इकाई का शीर्षक
01	हिंदी साहित्य का काल विभाजन
02	आदिकाल की तत्कालीन परिस्थितियाँ
03	आदिकाल की प्रवृत्तियाँ
04	आदिकाल के प्रमुख कवि और काव्य

ब्लॉक-परिचय

प्रिय अध्येता,

एम.ए. प्रथम वर्ष, प्रथम सत्र के कोर्स-I के ब्लॉक-01 में आप **हिंदी साहित्य का इतिहास** से सम्बन्धित विचारों का अध्ययन करेंगे। इसमें कुल 04 इकाईयाँ हैं। उनके शीर्षक निम्नांकित हैं –

इकाई 01 : **हिंदी साहित्य का काल विभाजन**

इकाई 02 : **आदिकाल की तत्कालीन परिस्थितियाँ**

इकाई 03 : **आदिकाल की प्रवृत्तियाँ**

इकाई 04 : **आदिकाल के प्रमुख कवि और काव्य**

आशा है कि, विस्तारपूर्वक आप इसका अध्ययन करेंगे और इस सामग्री का अधिक लाभ उठायेंगे।

पाठ लेखक

डॉ. प्रभुसेन डी
विभागाध्यक्ष
हिंदी अध्ययन एवं अनुसंधान विभाग
कर्नाटक राज्य मुक्त विश्वविद्यालय
मैसूरु

इकाई-01

हिंदी साहित्य का काल विभाजन

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 हिंदी साहित्य का काल विभाजन

- 1.2.1 शुक्लजी के काल विभाजन का आचार
- 1.2.2 अन्य विद्वानों के मत
- 1.2.3 आदिकाल (वीरगाथा काल)
- 1.2.4 पूर्व मध्यकाल (भक्तिकाल)
- 1.2.5 उत्तर मध्यकाल (रीतिकाल)
- 1.2.6 आधुनिक काल

1.3 समाहार

1.4 शब्दकोश

1.5 प्रगति की जाँच

1.6 बोध प्रश्न

1.7 सहायक ग्रंथ

1.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अंतर्गत आप हिंदी साहित्य के काल विभाजन के संबंध में संपूर्ण जानकारी प्राप्त कर सकेंगे। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप—

- हिंदी साहित्य के काल विभाजन का आधार समझ पायेंगे।
- विभिन्न विद्वानों के मतों का अवलोकन कर सकेंगे।
- हिंदी साहित्य के चार कालों का सूक्ष्म परिचय प्राप्त करेंगे।
- हिंदी साहित्य के चारों कालों की विभिन्न प्रवृत्तियों को समझ पायेंगे।
- प्रवृत्तियों के आधार पर चारों कालों के नामकरण के संबंध में जानकारी प्राप्त करेंगे।

1.1 प्रस्तावना

साहित्य जीवन का प्रतिबिम्ब होता है और जीवन संस्कृति तथा परिस्थितियों की प्रतिक्रिया है। अतः जीवनधारा को नयी दिशा प्रदान करनेवाली सभी राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों का प्रभाव समाज पर अवश्य पड़ता है। यही समाज साहित्य के द्वारा दर्शित होता है। इसीलिए कहा जाता है कि साहित्य समाज का दर्पण है। समाज परिवर्तनशील है और साहित्य भी। हिंदी साहित्य भी भारतीय जमानस की चिंतनधारा का प्रतिफलन है। इस साहित्य का समृद्ध इतिहास है। साहित्य तथा जनता की चित्तवृत्तियों के सहज संबंध के बारे में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है कि, "साहित्य जनता की चित्तवृत्तियों का संक्षिप्त प्रतिबिम्ब होता है।...आदि से अंत तक इन्हीं चित्तवृत्तियों की परंपरा को परखते हुए साहित्य-परंपरा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही साहित्य का इतिहास कहलाता है।"—इस कथन से स्पष्ट है कि इतिहास के पार्श्व में ही किसी विशेष साहित्य का अध्ययन करना, उनके उचित आकलन में सहायक हो सकता है। हिंदी साहित्य के इतिहास के अध्ययन की सुविधा के हेतु वर्ण्य-विषय अथवा प्रधान प्रवृत्ति आदि की दृष्टि से साहित्य का वर्गीकरण किया गया है।

1.2 हिंदी साहित्य का काल-विभाजन

हिंदी-साहित्य के काल-विभाजन का सर्वप्रथम प्रयास कर जार्ज ग्रियर्सन ने किया था और वे स्वरों इस विभाजन की न्यूनताओं से परिचित थे। उन्होंने अपभ्रंश-साहित्य को हिंदी-साहित्य के अंतर्गत स्वीकारते हुए उसका आरम्भ आठवीं सदी के आरम्भ से माना था और उसे चारण काल कहा था। ग्रियर्सन के पहले फ्रांसीसी गार्सा द तासी और भारतीय शिवसिंह सेंगर ने इतिहास तो लिखे थे और वे हिंदी-साहित्य के सर्वप्रथम इतिहासकार थे, उन्होंने सुसंगत काल-विभाजन नहीं किया था।

इस क्षेत्र में ग्रियर्सन के उपरांत मिश्रबंधुओं द्वारा लिखित 'मिश्रबंधु विनोद' उल्लेखनीय इतिहास है। इन्होंने भी ग्रियर्सन के काल विभाजन का अनुकरण करते हुए हिंदी-साहित्य का आरंभ आठवीं सदी से स्वीकारा और मध्यकाल तक के साहित्य का विभाजन 'आरम्भिक काल', 'माध्यमिक काल' में किया। उन्होंने शुक्लजी के रीतिकाल को 'अलंकृत काल', रीतिकाल के उत्तरार्द्ध को 'परिवर्तन काल' और आधूनिक काल को 'वर्तमान काल' कहा। इसमें न्यूनताएँ तो थीं फिर भी मिश्रबन्धु यथार्थ के अधिक निकट थे। 'मिश्रबन्धु विनोद' के पश्चात् आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का 'हिंदी-साहित्य का इतिहास' महत्वपूर्ण है। शुक्लजी ने अपभ्रंश साहित्य को हिन्दी-साहित्य से अलग मान, उसे केवल हिंदी-साहित्य की पूर्व-पीठिका के रूप में ही आंशिक रूप से स्वीकार किया। इसे शुक्लजी का प्रथम क्रांतिकारी कदम माना गया है। हिंदी-साहित्य के इतिहास के सर्वसम्मत चारों कालों में आदिकाल या वीरगाथाकाल सदैव विवादास्पद विषय रहा है। साधारणतः सन् ई. की 10वीं शताब्दी तक के काल को हिंदी-साहित्य का आदिकाल कहा जाता है। सर्वप्रथम आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस काल की रचनाओं में वीर रस का प्राधान्य देख कर इसे 'वीरगाथाकाल' का नाम दिया और संवत 1050 से 1375 तक (सन् 1318ई.) इसकी सीमा-रेखा निश्चित की। परंतु, हिंदी साहित्य के संबंध में कोई निश्चित प्रमाम नहीं मिलता कि कहाँ अपभ्रंश की रचनाएँ समाप्त हुई और कहाँ पहली बार हिंदी का प्रयोग हुआ। इस कारण आदिकाल की सीमा को गोरखनाथ से पहले तक माना जाता है तो कभी अपभ्रंश की रचनाओं का उल्लेख किया

जाता है, जो 14वीं-15वीं शताब्दी तक बनती रहीं और इन्हें इस काल की फुटकर रचनाएँ भी नहीं कहा जा सकता। अतः इस समय की अवधि, रचनाओं की प्रामाणिकता, साहित्यिक प्रवृत्ति आदि किसी भी दृष्टि से आदिकाल की अवस्था निश्चित नहीं है। इसी कारण मिश्रबन्धुओं ने हिंदी साहित्य के प्रारंभिक काल खण्ड का आरंभ संवत 700 से किया तो डॉ. रामकुमार वर्मा ने संवत 750 से 1000 तक की सामग्री को इतिहास में समेट लिया। सर्वप्रथम आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 900 वर्षों के हिंदी साहित्य को चार कालों में विभक्त किया और क्रमशः वीरगाथा काल, भक्तिकाल, रीतिकाल और आधुनिक काल के नामों के नामों से अभिहित किया है। यथा—

1. आदिकाल-वीरगाथा काल – संवत 1050 से संवत 1375 तक
2. पूर्वमध्य काल-भक्तिकाल – संवत 1375 से संवत 1700 तक
3. उत्तरमध्य काल-रीतिकाल – संवत 1700 से संवत 1900 तक
4. आधुनिक काल-गद्य काल – संवत 1900 से अब तक।

1.2.1 शुक्लजी का काल-विभाजन का आधार

शुक्लजी ने विभिन्न कालों का नामकरण प्रवृत्तियों की महत्ता के आधार पर किया है। जिस समय जिन रचनाओं की प्रमुखता रही, उन्हीं के विषयों के आदार पर उनके नाम रखे गये हैं। इस संबंध में अपने इतिहास के 'वक्तव्य' में उन्होंने दो बातों का उल्लेख किया है—(1) विशेष ढंग की रचनाओं की प्रचुरता और (2) ग्रन्थों की प्रसिद्धि। शुक्लजी के अनुसार इस पद्धति से विभाजन करने से यह लाभ है कि—"....प्रत्येक काल का एक निर्दिष्ट सामान्य लक्षण बताया जा सकता है। किसी एक ढंग की रचना की प्रचुरता से अभिप्राय यह है कि शेष दूसरे ढंग की रचनाओं में से चाहे किसी एक ढंग की रचना को लें, वह परिमाण में प्रथम के बराबर न होगी।...दूसरी बात है—ग्रंथों की प्रसिद्धि। किसी काल के भीतर एक ही ढंग के बहुत अधिक प्रसिद्ध ग्रंथ चले आते हैं, उस ढंग की रचना उस काल के लक्षण के अंतर्गत मानी जायेगी।...प्रसिद्धि भी किसी काल की लोक-प्रवृत्ति की प्रतिध्वनि है। इन दोनों बातो की ओर ध्यान रखकर काल-विभाग का नामकरण किया गया है।" शुक्लजी ने पहले प्रत्येक काल की

सीमावधि निर्धारित कर उसे काल-खण्डों (आदि काल, पूर्वमध्यकाल, उत्तरमध्य काल आदि) में विभाजित किया है और साथ ही मूल प्रवृत्ति के आधार पर प्रत्येक काल-खण्ड का नामकरण किया है।

1.2.2 अन्य विद्वानों के मत

शुक्लजी के उपरांत डॉ. श्यामसुन्दर दास, डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ. रामकुमार वर्मा, राहुल सांकृत्यायन आदि ने भी हिंदी-साहित्य का काल-विभाजन किया है।

डॉ. श्यामसुन्दर दास ने अपने 'हिंदी-साहित्य' में काल-विभाजन शुक्लजी के अनुसार ही किया है। दोनों विद्वानों के मत में अंतर यही है कि जहाँ शुक्लजी ने वीरगाथा काल को संवत 1050 से संवत 1375 तक माना है, वहाँ डॉ. श्यामसुन्दरदास ने इस काल का विस्तार संवत 1050 से संवत 1400 तक कहा है। उन्होंने यह मौलिकता दिखायी है कि हिंदी साहित्य की हर एक प्रधान प्रवृत्ति का विकास एवं इतिहास (आदिकाल से आधुनिक काल तक का) एक साथ प्रस्तुत किया है और आधुनिक काल को 'नवीन काल' कहा है।

डॉ. हजारी प्रसाद द्विवी ने अपने 'हिंदी-साहित्य का आदिकाल' में शुक्लजी के वर्गीकरण पर आपत्ति उठाते हुए कहा है कि, "इधर हाल की खोजों से पता चला कि जिन बाईस पुस्तकों के आधार पर शुक्लजी ने इस काल की प्रवृत्तियों का विवेचन किया है, उनमें से कई पीछे की रचनाएँ हैं और कई नोटिस मात्र ही हैं और कई के संबंध में यह निश्चित नहीं किया जा सकता कि उनका मूल रूप क्या था।" अतः वे इस काल को 'वीरगाथा काल' न मानकर 'आदिकाल' कहते हैं। इस संबंध में वे कहते हैं कि, "इस काल में वीर रस को सचमुच ही बहुत प्रमुख स्थान प्राप्त है। परंतु इस काल में सिद्ध-साहित्य और जैन-साहित्य का प्रणयन भी प्रचुर मात्रा में हुआ है। इसीलिए इसे केवल वीरगाथाकाल नहीं माना जा सकता।" अतः सिद्ध और जैन-साहित्य को भी महत्व देते हुए द्विवेदी जी ने आदिकाल का प्रारम्भ संवत 1008 से 1375 तक माना है। डॉ. द्विवेदी जी ने 'काल' शब्द का प्रयोग मात्र 'आदिकाल' और 'आधुनिक काल' के लिए किया है। 'भक्तिकाल' और 'श्रृंगारकाल' को उन्होंने 'काल' न कहकर

'भक्तिकाव्य', 'प्रेममार्गी काव्य' कहा है। साथ ही, उन्होंने भक्तिकाल का 'भक्ति साहित्य का आविर्भाव', 'वास्तविक हिंदी-साहित्य का आरंभ' शीर्षक देकर विवेचन किया है। समग्र रूप से द्विवेदी जी का इतिहास काल-विभाजन की दृष्टि से आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का ही अनुगामी रहा है।

डॉ. रामकुमार वर्मा ने 'हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' लिखा है जिसमें उन्होंने मिश्रबन्धुओं के समान आरम्भिक युग को 8वीं सदी से 12वीं सदी तक मानकर उसके दो खंड किए--'सन्धि काल' और 'चारण काल'। उन्होंने संवत 750 से 1000 तक की बौद्ध, जैन और सिद्धों की कविताओं को 'सन्धिकाल' में रखा और संवत 1000 से 1375 तक के काल को 'चारणकाल' का नाम दिया। 'सन्धिकाल' के मूल में तत्कालीन धार्मिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों का सम्मिश्रण है। यह युग दो धर्मों-वैदिक और बोद्ध धर्म तथा दो भाषाओं-अपभ्रंश और हिंदी का सन्धियुग था। अतः इसका नामकरण यथार्थ और पूर्ण है। लेकिन उनका 'चारणकाल' नाम दोषपूर्ण प्रतीत होता है, क्योंकि इस काल की रचनाओं में एक भी चारणकृति का उल्लेख नहीं है और संवत 1775 तक की रचनाओं को भी इस काल में सम्मिलित किया गया है। वर्मा जी ने 'आदिकाल' और 'भक्तिकाल' का ही विवेचन किया है।

राहुल सांकृत्यायन ने भी 'आदिकाल' का समय तो यही माना है, परंतु नाम रखा है 'सिद्ध सामन्त युग'। 'सिद्ध' शब्द से तत्कालीन धार्मिक साहित्य की प्रधानता व्यंजित होती है और 'सामंत' शब्द से राजनैतिक परिस्थिति। वस्तुतः डॉ. वर्मा का 'संधिकाल' और 'चारणकाल' राहुलजी के 'सिद्धकाल' और 'सामंतकाल' का ही दूसरा नाम है। आचार्य शुक्ल इस मत को स्वीकार नहीं करते। उनका तर्क है कि, "आदिकाल की इस दीर्घ परंपरा के बीच प्रथम डेढ़ सौ वर्षों के भीतर तो रचना की विशेष प्रवृत्ति का निश्चय ही नहीं होता है। धर्म, नीति, वीर, श्रृंगार, सब प्रकार की रचनाएँ दोहों में मिलती हैं। इस लोक प्रवृत्ति के उपरांत

जब से मुसलमानों की चढ़ाइयों का आरंभ होता है, तब से हम हिंदी-साहित्य की प्रवृत्ति एक विशेष रूप से बँधती हुई पाते हैं, जिसे लक्ष्य करके हमने इस काल को वीरगाथा काल कहा है।" फिर भी हिंदी-साहित्य के इतिहासकारों ने इतिहास लिखते समय शुक्लजी द्वारा निर्धारित ढाँचे को ही स्वीकार किया है।

1.2.3 आदिकाल

शुक्लजी ने हिंदी साहित्य के 'आरंभिक काल' को वीरगाथा काल कहा है। उनके अनुसार इस काल में दो प्रकार की रचनाएँ मिलती हैं—अपभ्रंश की और देश-भाषा की। सिद्ध-जैनों को 'अपभ्रंश काल' में रखकर उन्होंने तत्संबंधी काव्यों को 'साम्प्रदायिक' कहकर साहित्य में स्थान नहीं दिया है। इतिहास में उनका उल्लेख यह दर्शाने के लिए किया गया है कि अपभ्रंश का प्रयोग कब से हो रहा था। उन्होंने मात्र चार कृतियों को साहित्यिक माना है। वे हैं—(1) विजयपाल रासो (2) हम्मीर रासो (3) कीर्तिलता (4) कीर्तिपताका। देश-भाषा की आठ कृतियाँ साहित्यिक हैं। यथा—खुमान रासो (2) बीसलदेव रासो (3) पृथ्वीराज रासो (4) जयचन्द प्रकाश (5) जययंकजसचन्द्रिका (6) परमाल रासो (7) खुसरो की पहेलियाँ (8) विद्यापति की पदावली। शुक्लजी ने इन बारह कृतियों के आधार पर इस काल को 'वीरगाथा काल' कहा था। इसलिए कि इसमें तीन कृतियों को छोड़कर अन्य सभी वीरगाथाएँ हैं। उनका कथन है कि, "इन्हीं बारह पुस्तकों की दृष्टि से आदिकाल का लक्षण निरूपण और नामकरण हो सकता है। इनमें से तीन-विद्यापति की पदावली, खुसरो की पहेलियाँ और बीसलदेव रासो को छोड़कर शेष सब ग्रंथ वीरगाथात्मक हैं। अतः आदिकाल का नाम वीरगाथाकाल ही रखा जा सकता है।" इसके अतिरिक्त इस काल की राजनैतिक परिस्थितियाँ भी इस नाम को सार्थक करती हैं।

इस काल-खण्ड को 'आदिकाल' नाम डॉ. द्विवेदी ने दिया था। किंतु स्वयं उन्होंने इस संबंध में अपनी आशंका को व्यक्त करते हुए लिखा था—"वस्तुतः 'हिंदी का आदिकाल' शब्द

एक प्रकार की भ्रामक धारणा की सृष्टि करता है और श्रोता के चित्त में यह भाव पैदा करता है कि यह काल कोई आदिम मनोभावापन्न, परम्पराविनिर्मुक्त, काव्य-रूढ़ियों से अछूते साहित्य का काल है। यह ठीक नहीं है। यह काल बहुत अधिक परंपरा-प्रेमी, रूढ़िग्रस्त और सजग और सचेत कवियों का काल है।...यदि पाठक इस धारणा से सावधान रहें तो यह नाम बुरा नहीं है। क्योंकि यद्यपि साहित्य की दृष्टि से यह परिनिष्ठत अपभ्रंश से आगे बढ़ी हुई भाषा की सूचना लेकर आता है। इसमें भावी हिंदी-भाषा और उसके काव्यरूप अंकुरित हुए हैं।" शुक्लजी ने भी 'आदिकाल' शब्द पर विशेष आपत्ति नहीं प्रकट की थी। इस काल की सीमावधि को मोटे तौर पर 13वीं सदी से 14वीं सदी तक मानना तर्कसंगत है क्योंकि इस काल से संबंधित रचनाएँ इसी अवधि में लिखी गयी थीं।

1.2.4 भक्तिकाल

पूर्वमध्य काल को शुक्लजी ने 'भक्तिकाल' कहा है। प्रायः सभी इतिहास-लेखकों ने शुक्लजी के द्वारा किये गये वर्गीकरण तथा नामकरण से सहमत हैं। इस काल की परिधि संवत 1375 से 1700 तक मानी जाती है। डॉ. श्यामसुन्दरदास के अनुसार यह काल संवत 1400 से आरंभ होता है और मिश्रबन्धुओं का प्रौढ़ माध्यमिक काल संवत 161 से। इस काल के नामकरण के संबंध में कुछ विद्वानों की धारणा है कि निर्गुणधारा को भक्तिकाल के अंतर्गत सम्मिलित नहीं करना चाहिए अथवा इस काल को भक्तिकाल न कहकर 'धार्मिक काल' कहना चाहिए क्योंकि भक्ति तो केवल सगुण और साकार की हो सकती है और निराकार की नहीं। निर्गुण ब्रह्म भक्ति या प्रेम का विषय नहीं हो सकता। इसलिए इस संपूर्ण काल को 'धार्मिक काल' कहना अधिक युक्तिसंगत लगता है। इस तर्क को स्वयं शुक्लजी ने स्वीकारा है। जैसे, "भारतीय भक्ति मार्ग साकार और सगुण रूप को लेकर चला था, निर्गुण और निराकार ब्रह्मभक्ति या प्रेम का विषय नहीं माना जाता।" किंतु शुक्लजी ने भक्ति की प्रधानता को देखकर ही इस काल को 'भक्तिकाल' कहा था। भक्ति ही इस काल-खंड का प्रमुख कथ्य या भाव रही है। इस काल की रचनाओं में निर्गुण और सगुण-भक्ति के दोनों रूपों का चरम

उत्कर्ष दिखाई पड़ता है। सगुण भक्ति की दोनों शाखों—रामभक्ति और कृष्णभक्ति के वर्गीकरण से सभी विद्वान सहमत हैं किंतु निर्गुण भक्ति की ज्ञानाश्रयी और प्रेमाश्रयी संज्ञाओं से सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार संत-काव्य में वास्तविक ज्ञान का निरूपण न होकर, केवल उसका आभास मात्र है और सूफी कवियों का निर्गुण ब्रह्म, भक्ति का आलम्बन न होकर 'प्रेम की पीर' का आलम्बन रहा है। श्रद्धा के अभाव के कारण इनकी 'प्रेम की पीर' भक्ति की सीमा का स्पर्श नहीं कर पाती। डॉ. श्रीकृष्णलाल ने लिखा है कि, "सिद्धांत, रूपक और अभिव्यक्ति तीनों ही दृष्टियों से शुक्लजी की प्रेमाश्रयी शाखा को स्वीकार नहीं किया जा सकता।" किंतु सीमावधि की दृष्टि से सूफी काव्य को भक्तिकाल के अंतर्गत ही स्वीकार किया जायेगा।

1.2.5 रीतिकाल

'उत्तरमध्य काल' को शुक्ल जी ने 'रीतिकाल' कहा है। इस काल-खण्ड का विस्तार उन्होंने संवत 1700 से 1900 तक माना है। उनके द्वारा निर्धारित 'रीतिकाल' म भी विवादास्पद रहा है। इस युग के साहित्य तथा भाषा के अलंकरण की प्रवृत्ति को प्रमुख मानते हुए मिश्रबंधुओं ने इसे 'अलंकृत काल' कहा था। शुक्लजी द्वारा दिया गया नाम 'रीतिकाल' तत्कालीन लक्षण—उदाहरण शैली की प्रमुख प्रवृत्ति को व्यक्त करता है। उदाहरण—लक्षण के सहारे अपनी काव्य-शक्ति का परिचय देना और काव्य-प्रेरणा का आकर्षक-कन्द्र नारी होना ही यह काव्य-परिपाटी है। इस परंपरा में 'रीति' बीज-भाव होता है। प्रत्येक रीतिकालीन कलाकार (घनानन्द आदि कवि को छोड़कर) ने ज्ञात अथवा अज्ञात रूप से इसी रचना-पद्धति से काव्य-सृजन किया है। अतः शुक्लजी ने इसे 'रीतिकाल' नाम दिया है। कतिपय आलचकों ने वर्ण्य-वस्तु को ध्यान में रखकर इसे 'श्रृंगार काल' कहा है, क्योंकि "इन रीति ग्रन्थों के प्रणेता भावुक, सहृदय और निर्गुण कवि थे। काव्यांगों के शास्त्रीय विवेचन में उनकी प्रवृत्ति अधिक नहीं रही है—यदि कहीं मौलिकता दिखाई देती है, तो श्रृंगार रस के सरस और हृदयग्राही उदाहरणों में—जो लक्षणों को समझने के हेतु प्रस्तुत किए गए हैं।" इस प्रकार

उन्होंने इस वर्ण्य-वस्तु को ही ध्यान में रखा है, जो पद्धति-मात्र से व्यापक है। रीति-ग्रन्थों में जितना विवेचन हुआ है, चिंतामणि त्रिपाठी से लेकर रसिक गोविन्द तक और उदाहरणस्वरूप जितनी भी सामग्री प्रस्तुत की गई है, श्रृंगार ही है। शुक्लजी ने इसमें आपत्ति नहीं की है। उनका कहना है कि, "यदि इस काल को कोई रस के विचार से श्रृंगार काल कहे, तो कह सकता है।" इस युग के अधिकांश कवियों का मूल प्रतिपाद्य 'काव्य-शास्त्र' ही रहा था, यद्यपि उनके अभिव्यक्ति-प्रकार में श्रृंगार का चित्रण प्रधान हो उठा था। यहाँ श्रृंगार साधन था और काव्य-शास्त्र साध्य। शुक्लजी ने इस रहस्य को पहचान कर इस काव्य को 'रीतिकाल' कहा था। दूसरी और इस युग में श्रृंगार-भावना की इतना व्यापकता है कि भूषण आदि वीर-रस के तथा गिरिधर आदि नीतिकाव्य के रचयिताओं को छोड़, यह अन्य सबको अपने परिवेश में समेट लेती है। इस काल का प्रमुख कथ्य श्रृंगार है, चाहे वह रीतिकाव्यों के माध्यम से अभिव्यक्त किया गया हो या प्रेम प्रधान काव्यों के द्वारा।

1.2.6 आधुनिक काल

आधुनिक काल को शुक्लजी ने 'गद्य काल' कहा है और इसका आरंभ संवत 1900 से माना है। उनका कथन है कि, "आधुनिक काल में गद्य का आविर्भाव सबसे प्रधान साहित्यिक घटना है।" हिंदी खड़ीबोली गद्य का तीव्रगति से उदय और विकास इस काल की प्रधान घटना रही है। डॉ. श्यामसुन्दरदास इसे 'नवीन विकास का काल' मानते हैं और डॉ. द्विवेदी ने इसे 'आधुनिक काल' ही कहा है। अन्य परवर्ती इतिहासकारों ने भी इसे 'आधुनिक काल' कहना ही अधिक संगत समझा है। किंतु कुछ आलोचकों का मानना है कि 'आधुनिक काल' नाम केवल समय सूचक है, विषय सूचक नहीं। जिस प्रकार कथ्य के आधार पर 'भक्तिकाल', 'रीतिकाल' आदि नाम रखे गये हैं, उसी प्रकार 'आधुनिक काल' का नाम भी विषय के आधार पर ही रखना चाहिए। मुगलों के पतन और अंग्रेजों के आगमन व शासन ने देश की प्राचीन परंपराओं के विरुद्ध देश में एक नवीन विद्रोह-भावना को जन्म दिया था। अतः संपूर्ण देश में

नवीन सामाजिक तथा राजनैतिक चेतना का उदय हुआ था, जिसने प्राचीन अगतिशील भावनाओं को निरर्थक सिद्ध किया। इस युग के नये साहित्यकारों ने इस नवीन युग-चेतना से प्रभावित होकर देश और जाति के उद्धार और पुनर्निर्माण की भावना से अपने साहित्य-सृजन में इस जागरण की भावना को भर दिया। यह जागरण की भावना ही इस युग के साहित्य का मूल कथ्य रही। इसीलिए इस काल को 'पुनर्जागरण का काल' कहना अधिक संगत होगा। हिंदी साहित्य के सुदीर्घ इतिहास में जागरण की यह भावना कई बार उभरती हुई प्राप्त होती है। हिंदी का प्राचीन साहित्य मुख्य रूप से काव्य-साहित्य था। इस काव्य में मुक्तक और प्रबंध शैलियों का विकास हुआ। आधुनिक युग में यद्यपि हिंदी-काव्य में भी छायावाद, रहस्यवाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और प्रतीकवाद आदि अनेक शैलियों का विकास हुआ, तथापि इस युग की प्रधान विशेषता गद्य-साहित्य का अभूतपूर्व विकास हुआ है। उपन्यास, नाटक, कहानी, निबंध, आलोचना और अन्य रूपों का आविर्भाव और विकास आधुनिक युग में ही हुआ। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिंदी के आधुनिक इतिहास को तीन भागों में विभाजित किया है—

प्रथम उत्थान	–	संवत 1925 से 1950 तक
द्वितीय उत्थान	–	संवत 1950 से 1975 तक
तृतीय उत्थान	–	संवत 1975 से अब तक

शुक्लजी द्वारा निरूपित आधुनिक काव्य के तीन उत्थानों को 'भारतेन्दु-युग', 'द्विवेदी युग' एवं 'छायावाद-युग' भी कहा जाता है। शम्भूनाथ सिंह जी ने अपनी पुस्तक 'छायावाद युग' में इन्हें क्रमशः 'संक्रान्ति-युग', 'पुनरुत्थान-युग' एवं 'विद्रोह-युग' कहना उचित मानते हैं। फिर भी इस युग का सम्पूर्ण साहित्य, चाहे गद्य हो या पद्य, एक ही अनुचेतना से प्रेरित गोचर होता है।

1.3 समाहार

काल-विभाजन संबंधी प्राप्य सामग्री के आधार पर आचार्य शुक्ल की धारणाएँ महत्वपूर्ण है। डॉ. नगेन्द्र के शब्दों में, "काल-विभाजन-संबंधी उपलब्ध सामग्री के उचित

परीक्षण के उपरांत आज आचार्य शुक्ल द्वारा किया हुआ हिंदी साहित्य का काल-विभाजन न प्रायः सर्वमान्य-सा हो गया है और वास्तव में सर्वथा निर्दोष न होते हुए भी कुछ संगत और विवेकपूर्ण है।" आधुनिक इतिहासकारों ने शुक्लजी के वर्गीकरण को मूलाधार बनाया है। शुक्लजी भी अपनी सीमाओं से परिचित थे। इसीलिए उन्होंने स्वयं कहा है—"इसी संदिग्ध सामग्री को लेकर जो थोड़ा-बहुत विचार हो सकता है, उसी पर हमें संतोष करना पड़ता है।" यह कथन वीरगाथाओं के संबंध में है। शुक्लजी द्वारा किया गया काल-विभाजन और विभिन्न कालों का नामकरण उचित प्रतीत होता है। उनके द्वारा निर्धारित 'भक्तिकाल' और 'आधुनिक काल' सीमावधि और नामकरण के विषय में लगभग सभी विद्वान उनसे सहमत हैं। विरोध केवल 'आदिकाल' और 'रीतिकाल' के संबंध में हुआ है। 'आदिकाल' के संबंध में सीमावधि और नामकरण—दोनों का विरोध हुआ है और 'रीतिकाल' के नामकरण का। हिंदी साहित्य के अनेक इतिहास लिखे गये हैं जो अधिकतर शुक्लजी द्वारा निर्धारित काल-विभाजन पर ही निर्भर है। कुछ लोगों ने मात्र विभिन्न कालों के नामकरण करने में मौलिकता दर्शाने का प्रयास किया है।

साहित्य का इतिहास अपने व्यापक रूप में प्रत्येक परिवर्तन-क्रिया का विवरण है। कोई भी वस्तु अपरिवर्तनशील नहीं होती। समाज तथा संस्थाएं भी परिवर्तनशील है। परिवर्तन की यही क्रिया साहित्य, दर्शन, राजनीति आदि क्षेत्रों में भी कार्य करती रहती है। इसीलिए साहित्य का अध्ययन करते समय उसे प्रभावित करनेवाली परिस्थितियों तथा सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक वातावरण से सम्बद्ध कर देखना आवश्यक हो जाता है। प्रत्येक काल की अपनी भावना, अपनी विचारधारा एवं अपनी विशिष्टता होती है। उसी के अध्ययन करने का नाम साहित्य के इतिहास का वैज्ञानिक अध्ययन है। किंतु समग्र रूप से संचित सामग्री का अध्ययन करना कष्टसाध्य है। अतः प्राप्त सामग्री के आधार पर समय निर्धारण कर, सामग्री की प्रामाणिकता पर ध्यान देते हुए साहित्य का विभाजन किया जाता है। समाज और साहित्य के घनिष्ठ संबंध होने के कारण साहित्य में भी परिवर्तन होते रहते हैं।

साहित्य के इतिहास के अध्ययन की सुविधा हेतु प्रत्येक काल की विशेषताओं से अवगत होने के लिए तथा साहित्यिक प्रवृत्तियों की संपूर्ण जानकारी प्राप्त करने के लिए इस प्रथम चरण (अर्थात् काल-विभाजन) से संबंधित विभिन्न मतों का संक्षिप्त विवरण इस इकाई में दिया गया है।

निम्नांकित तालिका से इस काल-विभाजन की रूप-रेखा को भली-भाँति समझा सकता है-

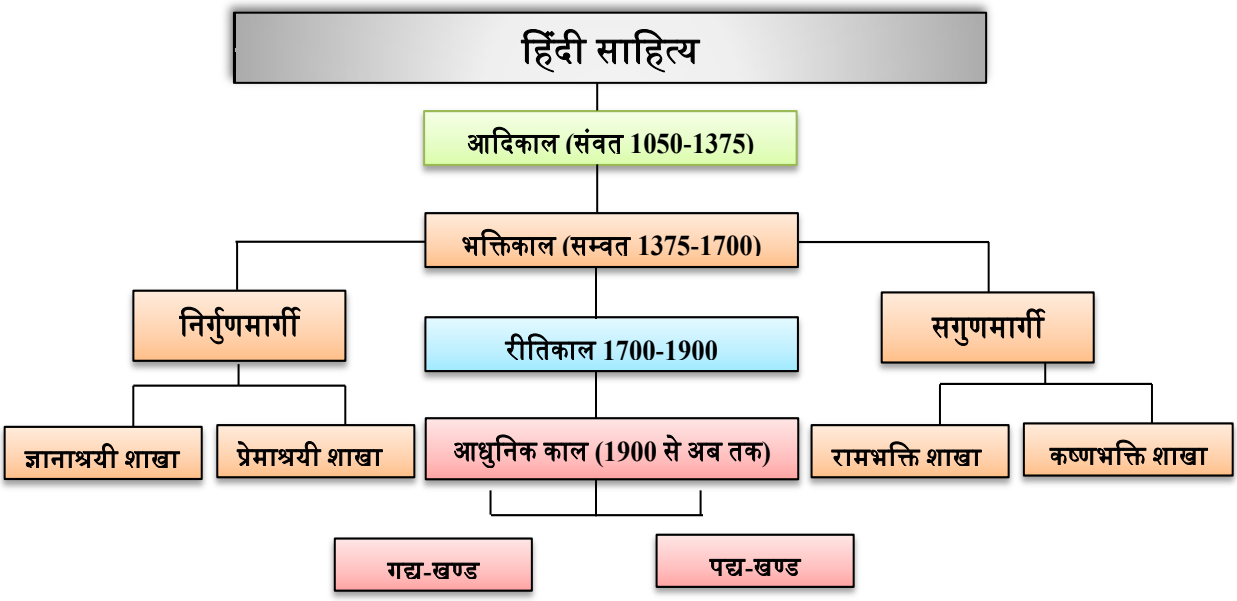

विभाजन कहलाता है। काल विभाजन के कई आधार हो सकते हैं। कर्ता के आधार पर- प्रसाद युग, भारतेंदु युग, द्विवेदी युग। प्रवृति के आधार पर- भक्तिकाल, संतकाव्य, सूफीकाव्य, रीतिकाल, छायावाद, प्रगतिवाद। विकासवादिता के आधार पर- आदिकाल, आधुनिक काल, मध्यकाल।

- **आरंभिक काल:** हिंदी पद्य साहित्य के शुरुआती समय को आदि काल, आरम्भिक काल, वीर गाथा काल, वीर काल चारण काल. के नामों से जाना जाता है। इसे आरम्भिक काल का नाम डॉ.हजारी प्रसाद द्विवेदी ने दिया।

- **भक्तिकाल:** यह हिंदी साहित्य का श्रेष्ठ युग है जिसको जॉर्ज ग्रियर्सन ने स्वर्णकाल, श्यामसुन्दर दास ने स्वर्णयुग, आचार्य राम चंद्र शुक्ल ने भक्ति काल एवं हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लोक जागरण कहा। सम्पूर्ण साहित्य के श्रेष्ठ कवि और उत्तम रचनाएं इसी में प्राप्त होती हैं।
- **रीतिकाल:** भक्ति काल और रीति काल दोनों के काल को हिंदी साहित्य का मध्यकाल कहा जा सकता है। रीति का अर्थ है : पद्धति। रस, अलंकार, गुण, ध्वनि और नायिका भेद आदि काव्यांगों के विवेचन करते हुए, इनके लक्षण बताते हुए रचे गए काव्य की प्रधानता के कारण इस काल को रीतिकाल कहा गया।
- **आधुनिक काल:** हिंदी साहित्य का आधुनिक काल तत्कालीन राजनैतिक गतिविधियों से प्रभावित हुआ। इसको हिंदी साहित्य का सर्वश्रेष्ठ युग माना जा सकता है, जिसमें पद्य के साथ-साथ गद्य, समालोचना, कहानी, नाटक व पत्रकारिता का भी विकास हुआ।

1.5 प्रगति की जाँच

1. शुक्लजी ने हिंदी साहित्य के 'आरंभिक काल' को _____कहा है।

   (अ) वीरगाथा काल

   (आ) प्रारंभिक काल

   (इ) आदि काल

   (ई) संधिकाल

2. मिश्रबंधुओं ने_____'अलंकृत काल' कहा था।

   (अ) भक्तिकाल

   (आ) चारण काल

(इ) रीति काल

(ई) आधुनिक काल

3. _____ को 'स्वर्ण युग' कहा जाता है।

(अ) पुनरोत्थान काल

(आ) भक्तिकाल

(इ) रीति काल

(ई) आधुनिक काल

4. _____ को गद्य काल कहा जाता है।

(अ) संधि काल

(आ) भक्तिकाल

(इ) निर्गुण काल

(ई) आधुनिक काल

5. रीति काल की काल सीमा_____माना जाता है।

(अ) सन् 1700 से सन् 1900

(आ) सन् 1000 से सन् 2000

(इ) सन् 1600 से सन् 1700

(ई) सन् 1500 से सन् 1600

1.6 बोध प्रश्न

1. हिंदी साहित्य का काल-विभाजन पर प्रकाश डालिए।
2. हिंदी साहित्य के काल-विभाजन संबंधि विभिन्न मतों की चर्चा कीजिए।
3. शुक्लजी के काल-विभाजन और नामकरण का औचित्य समझाइए।
4. हिंदी साहित्य के काल विभाजन को स्पष्ट करते हुए, हिंदी साहित्य की साहित्य की उचित काल सीमा प्रस्तुत कीजिए।

5. हिंदी-साहित्य के काल-विभाजन का औचित्य प्रतिपादन कीजिए।

1.7 सहायक ग्रंथ

1. हिंदी साहित्य का इतिहास- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल।
2. हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास- डॉ.रामकुमार वर्मा।
3. हिंदी साहित्य का उद्भव और विकास- आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी।
4. हिंदी साहित्य का इतिहास- डॉ.नगेन्द्र।
5. हिंदी साहित्य युग और प्रवृत्तियाँ- डॉ.शिवकुमार शर्मा।

*****

इकाई 02

आदिकाल की तत्कालीन परिस्थितियाँ

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 तत्कालीन परिस्थितियाँ

- **2.2.1** राजनीतिक परिस्थिति
- **2.2.2** सामाजिक परिस्थिति
- **2.2.3** धार्मिक परिस्थिति
- **2.2.4** साहित्यिक परिस्थिति

2.3 समाहार

2.4 शब्दकोश

2.5 प्रगति की जाँच

2.6 बोध प्रश्न

2.7 सहायक ग्रंथ

2.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अंतर्गत आप हिन्दी-साहित्य के आदिकाल के रंबंध में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप-

1. तत्कालीन विभिन्न परिस्थितियों से अवगत होंगे।
2. उन सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक तथा साहित्यिक परिस्थितियों के प्रभाव को समझ पायेंगे।
3. आदिकाल की विधिध प्रवृत्तियों का ज्ञान प्राप्त करेंगे।
4. सिद्ध, नाथ, जैन साहित्य का अन्य साहित्यिक प्रवृत्तियों पर जो प्रभाव पड़ा है उसकी और भाषागत विशेषताओं की जानकारी मिलेगी।
5. तत्पश्चात् वीरगाथा-साहित्य का प्रभाव तथा उसकी विशेषताओं और भाषा के संबंध में जानकारी प्राप्त करेंगे।
6. आदिकालीन फुटकल रचनाओं तथा गद्य-साहित्य के महत्व को भी समझ पायेंगे।

2.1. प्रस्तावना

कुछ विद्वानों ने हिन्दी-साहित्य का आरम्भ आठवीं सदी से माना है और यही समय अपब्रंश-साहित्य के उदय का काल माना गया है। ग्रियर्सन, मिश्रबन्धु, राहुल सांकृत्यायन, डॉ.रामकुमार वर्मा आदि ने अपभ्रंश को पुरानी हिन्दी मानकर हिन्दी-साहित्य के इतिहास में आठवीं सदी में रचित अपभ्रंश की रचनाओं को सम्मिलित किया है। शिवसिंह सेंगर ने सातवीं सदी के पुष्य नामक कवि से हिन्दी-साहित्य का आरंभ माना है। पुष्य का अन्य ग्रंथों में उल्लेख मात्र मिलता है और उनके द्वारा रचित कोई ग्रंथ प्राप्त नहीं है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डॉ.श्यामसुन्दरदास, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी और अन्य कतिपय हिन्दी-साहित्य का आरम्भ गयारहवीं सदी से मानते हैं। इस संबंध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है - "अपभ्रंश या प्राकृताभास हिन्दी के पद्यों का सबसे पुराना पता तांत्रिक और बौद्धों की साम्प्रदायिक रचनाओं के भीतर मिलता है। मुंज और भोज के समय (सम्बत् 1050 के लगभग) में ऐसी अपभ्रंश या पुरानी हिन्दी का प्रचार शुद्ध साहित्य या काव्य-रचनाओं में भी

पाया जाता है। अतः हिन्दी-साहित्य का आदिकाल सम्वत् 1050 से लेकर 1375 तक अर्थात् महाराज भोज के समय से लेकर हम्मीरदेव के समय के कुछ पीछे तक माना जा सकता है। "

हिन्दी-साहित्य का "आदिकाल" बड़ा विवादग्रस्त है। शुक्लजी ने अपभ्रंश काव्य को हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत न मानकर हिन्दी के पूर्व-रूप में उसका उल्लेख किया है। उन्होंने साम्प्रदायिक रचनाओं को साहित्यिक रचनाएँ न मानकर धार्मिक रचनाएँ माना है। राहुल सांकृत्यायन आदि ने कुछ ऐसे ग्रंथों का उल्लेख किया है जो अपभ्रंश काल में लिखे गये माने जाते हैं। उनका कहना है कि इन ग्रंथों में सम्प्रदाय विशेष का प्रतिपादन होते हुए भी सुन्दर साहित्य के दर्शन होते हैं और इसलिए उन्हें साहित्य में स्थान मिलना चाहिए। वे 'सरहपा' (सम्वत् 817) को हिन्दी का आदि कवि मानते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने आदिकाल के साहित्य को दो भागों में विभाजित किया है - 'अपभ्रंश काल' और 'वीरगाथा काल'। द्विवेदी जी ने इसे भारतीय इतिहास का अत्यधिक 'विरोधों और व्याघातों का युग' कहा है और भारतीय विचारों का मंथन काल कहकर इसे महत्वपूर्ण काल मानते हैं।

2.0. तत्कालीन परिस्थितियाँ

आदिकालीन हिन्दी-साहित्य में भाव तथा भाषा-शैली की दृष्टि से जो विविधता गोचर होती है, उसका मूल कारण तत्कालीन परिस्थितियाँ हैं। तत्कालीन राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक तथा साहित्यिक परिस्थितियों का परिचय आवश्यक है क्योंकि इन्हीं परिस्थितियों के प्रभाव के परिणामस्वरूप साहित्य का प्रारम्भिक निर्माण हुआ है।

2.2.1. राजनीतिक परिस्थिति

राजनीतिक दृष्टि से भारतीय इतिहास का यह युग अव्यवरथा, विश्रृंखलता, कलह, पराजय, बिखराव का युग माना जाता है। ऐसे अशांतिपूर्ण वातावरण के साथ-साथ विदेशी आक्रमणों और राजाओं के पारस्परिक विद्वेष की भावना के कारण देश खोखला-सा होता जा होता जा रहा था। सम्राट हर्षवर्द्धन के निधन के उपरान्त उत्तर भारत में केन्द्रीय शक्ति का ह्रास हो गया था। 9वीं शताब्दी में प्रतिहार भोज ने पुनः सुव्यवस्था स्थापित करने का प्रयास

किया। किंतु दक्षिण भारत में राष्ट्रकूटों की शक्ति बढ़ रही थी। अरब में इसलाम का उत्थान होने पर वह सुदूर पश्चिम और पूर्व की ओर अग्रसर हो रहा था, पर अफगानिस्तान से जो कि उस समय भारत के अन्तर्गत था, आगे न बढ़ सका और मुसलमानों ने सिन्धु पर आक्रमण किया और वहाँ के जाटों तथा बौद्धों ने राजा दाहिर के व्यवहार से असन्तुष्ट होकर उससे न केवल अपना असहयोग किया बल्कि वैयक्तिक स्वार्थ के लिए आक्रमणकारियों का साथ दिया। इससे देश में अराजक स्थिति उत्पन्न हो गयी। आठवीं सदी से लेकर तेरहवीं सदी तक उत्तर भारत को निरन्तर इन विदेशी आक्रमणों का सामना करना पड़ा। 12वीं-13वीं सदी में मद्य देश में हिन्दुओं के कई शक्तिशाली राज्य थे। इन राज्यों ने मुस्लिम आक्रान्ताओं का डट कर सामना किया परन्तु एकाकी रूप में। इसलिए एक-एक कर पराजित और नष्ट होते चले गये। इन राजाओं ने परस्पर मिलकर आक्रमणकारियों से लड़ने की ओर ध्यान नहीं दिया। पृथ्वीराज चौहान, जयचन्द गहरवार, परमार्दिदेव आदि आपस में लड़ते रहे और विदेशियों से भी। परिणामतः हर दिशा में विनाश ही विनाश होने लगा।

हर्षवर्द्धन के समय में देश सुख-समृद्धि से परिपूर्ण था। उस काल के चीनी यात्री हुएन्संग के वर्णनों से तत्कालीन भारतीय परिवेश का भव्य सुन्दर चित्र प्राप्त होता है। धार्मिक और सामाजिक सुव्यवस्था थी। राज्य में विद्रोह की चिंता नहीं थी। देश भर में वैभवपूर्ण वातावरण छा गया था। लेकिन सम्राट की मृत्यु के पश्चात् देश की केन्द्रित शक्ति बिखर गयी। एकाधिपत्य के अभाव में राजनीतिक परिस्थिति अशांति तथा कलहपूर्ण बन गयी। राज्य सत्ता अनियंत्रित होने के कारण कई छोटे-छोटे राज्यों में देश बँट गया और तोमर, राठौर, चौहान, चालुक्य, चन्देल आदि आपस में लड़कर अपनी शक्ति को शिथिल करने लगे। ऐसे समय में भारतवर्ष पर मुसलमानों के आक्रमण होने लगे। कहा जाता हे कि 636 में खलीफा उमर के समय से भारत पर लगातार मुसलमानों के आक्रमण होते रहे। दसवीं शताब्दी के अन्त में जब महमूद गजनवी ने गजनी पर अधिकार स्थापित किया, तब उसने शाही राज्य पर भी विजय प्राप्त की और पुजाब व कांगड़ा को अपने अधीन कर उसने मथुरा, कन्नौज, ग्वालियर तथा कलिंग को लूटा। कन्नौज को उसने अपना राज्य ही बना लिया और इन सफलताओं के बाद सौराष्ट्र पर आक्रमण कर सोमनाथ मन्दिर से अपार धनराशि लूट जी। इस प्रकार एक विदेशी सभ्यता और संस्कृति स्थापित हुई। प्रारम्भ में मुसलमान भारतीय संस्कृति

की ओर आकृष्ट हुए थे और उन्होंने संगीत, वास्तुकला, गणित, ज्योतिष और आयुर्वेद आदि का अध्ययन भी किया। खलीफा मंजूर और हाँरू दरबार में भारतीय विद्वानों का आदर भी होता था। बाद में मुसलमानों ने अत्याचार तथा क्रूर व्यवहार को ही अपनाया, किंतु पारस्परिक सांस्कृतिक आदान-प्रदान के कारण एक दूसरे की सभ्यता और संस्कृति से प्रभावित हुए। मुसलमान भारतीय संस्कृति में रंग गये। उस समय हिन्दुओं के पराजित होने के कारणों में जैन-बौद्ध धर्मों द्वारा प्रसारित अहिंसा में विश्वास, वर्ण-भेद से उत्पन्न निर्बलता, संगठन का अभाव, धार्मिक भेद-भाव, जातीय विशृंखलता आदि प्रमुख थे। भारत के जनमानस में परतंत्र का संकट फैल गया। धीरे-धीरे इस्लामी संस्कृति का प्रभाव भी देश पर पड़ने लगा।

राजनी में तुर्कों का अन्त कर शहाबुद्धीन मुहम्मद गोरी ने जब भारत पर शासन स्थापित करने की ठान ली और कई बार पराजित होने के बावजूद अपने निश्चय से पीछे न हटा। उस समय अजमेर का शक्तिशाली शासक पृथ्वीराज चौहान गोरी को रोकने के बजाय राजा परमार्दिदेव से युद्ध किया, जिसमें दोनों राजाओं की शक्ति का अपव्यय हुआ। पारस्परिक विद्वे, की भावना के कारण ही कन्नौज के राजा जयचन्द्र ने गोरी को पृथ्वीराज पर आक्रमण करने के लिए प्रेरित किया और उसके षड्यन्त्रों के फलस्वरूप गोरी पृथ्वीराज चौहान को पराजित करने में सफल भी हो गया। चौहान की मृत्यु के बाद भी धीरे-धीरे उसने कन्नौज और कालिंजर पर भी अधिकार स्थापित कर लिया। इस प्रकार दिल्ली में तुर्कसल्तनत स्थापित हुई और उसका विस्तार होने लगा। प्रबल विरोध के बावजूद मुसलमान शासन सम्पूर्ण उत्तरी भारत में व्याप्त हुआ। देश छोटे-छोटे राज्यों में विभाजित था। वीर शासक होते हुए भी विदेशी आक्रमण के समय में भी परस्पर सहायता करने की ओर ध्यान नहीं देते थे, क्योंकि वे अपने छोटे राज्य को ही राष्ट्र समझते थे। जनता भी अपने राजा की आज्ञा का परिपालन करना ही अपना कर्तव्य मानती थी। अन्तःकलह, ईर्ष्या, द्वेष के कारण उनका पतन होता गया। कालान्तर में इन आपसी युद्धों और मुसलमानों के हमलों ने देश में अराजक स्थिति उत्पन्न कर दी थी। ऐसे अशांत वातावरण में कवियों का ध्यान अन्य प्रकार की रचनाओं से हटकर वीररस-प्रधान गाथाओं की ओर गया। इस घोर अशांतिमय युग में वीररसपूर्ण रचनाओं का सृजन अत्यंत स्वाभाविक ही था। अतः कहा जाता है कि उस समय

साहित्य की सर्वतोमुखी प्रगति हो नहीं पायी थी। देश में परिव्याप्त दो संस्कृतियों के पारस्परिक संपर्क, समन्वय, संघर्ष के कारण जीवन तथा विचारों में परिवर्तन आया, जिसके फलस्वरूप साहित्यिक क्षेत्र में भी नवीन विचारधाराएँ उभर आयीं।

2.2.2. सामाजिक परिस्थिति

इस काल में सामाजिक परिस्थिति भी अत्यन्त अस्त व्यस्त हो उठी थी। राजागण परस्पर युद्ध या विदेशियों से लड़ते रहे। उनहें जनता की सुरक्षा की कोई विंता नहीं थी। अपना व्यक्तिगत सम्मान ही उनकी चिंता का विषय बना हुआ था और प्रजा की सुख-सुविधा की ओर उनका ध्यान नहीं था। युद्धों के समय जनता आक्रांत थी। सनातन धर्म रूढ़ हो चुका था। धर्म व रातनीति की अत्यन्त शोचनीय दशा सामाजिकता की दृष्टि से भी निराशाजनक थी। जाति, गुण व कर्म के आधार पर न होकर वर्ण के आधार पर स्वीकार की जा रही थी। उच्च वर्ण के लोग निम्न-वर्ण के लोगों को हेय समझते थे। प्रत्येक जाति की अनेक उपजातियाँ हो गयी थीं। साथ ही छुआछूत के नियम भी खड़े होते जा रहे थे और अलबेरुनी ने तत्कालीन परिस्थितियों के संबंध में कहा है - "उन्हें (हिन्दुओं की) इस बात की इच्छा नहीं होती कि जो वस्तु एक बार भ्रष्ट हो गई है उसे शुद्ध कर पुनः अपना लें। " इस प्रकार हिन्दुओं की भावनाएँ रूढ़िग्रस्त हो गयी थीं। नारी केवल भोग्या मानी जाती थी। उसका बलात् अपहरण कर लेना राजाओं का आम रिवाज-सा बन गया था। शिक्षा केवल उच्च वर्ग तक ही सीमित थी। राजनीति, व्याकरण, साहित्य शास्त्र, नाटक, तंत्र-मंत्रादि की शिक्षा राजन्यवर्ग एवं उनके सभासदों तक ही सीमित होकर रह गयी थी। अर्थात् उस युग में सामन्त-वर्ग समृद्ध, विलासी और शिक्षित था और जनता निर्धन, अशिक्षित तथा पीड़ित थी। सामन्ती-शासन की यह परिणति थी और वह युग सामन्ती शासन का था। सिद्ध और नाथ पंथी साधक पुराने सनातन धर्म की रूढ़ मान्यताओं और छुआछूत की भावना का विरोध कर रहे थे। समाज का निम्न वर्ग उनसे प्रभावित था। निम्न वर्ग में उच्च वर्ग और उसके आडम्बरपूर्ण धर्म के विरुद्ध एक क्रांति की ज्वाला सुलग रही थी, जिसका पूर्ण विस्फोट संत-काव्य में दिखाई पड़ता है।

जब मुसलमान सारे उत्तर भारत पर हावी हो गए तो देश गुलाम बन गया। साथ ही सामन्ती वीरता और वंशकालीनता का बोलबाला होने के कारण परस्पर विद्वेष की भावना

भी बलवती होती जा रही थी। राजपूतों में अवश्य वीरता व आत्मोत्सर्ग की ल्लेखनीय विशेषता विद्यमान थी। राजपूत रमणियाँ भी इस दिशा में किसीसे पीछे नहीं थीं और जौहर उनके आत्म-बलिदान व शौर्य का प्रतीक माना जाता है। उस समय स्वयम्वर-प्रथा का भी प्रचार था और वह तत्कालीन सामाजिक विशेषता ही थी। यद्यपि राजपूत दृढ़ प्रतिज्ञ, स्वाभिमानी एवं ईमानदार थे, पर वह कूटनीतिज्ञ और दूरदर्शी नहीं थे और युद्धोत्साह के साथ-साथ उनमें भोग विलास की भावना भी प्रबल थी। साथ ही सामान्य जनता में मनोबल की भी कमी थी और सामाजिक दुरवस्था का चित्रण तत्कालीन साहित्य में परिलक्षित होता है। समाज जात-पात, गोत्र आदि के झगड़ों में पड़कर ऐक्य भावना भूल रहा था। उसी समय बाल-विवाह की प्रथा चली किंतु विधवा-विवाह का निषेध रहा।

इस प्रकार हिन्दी–साहित्य के आदि काल के समय में उत्तर भारत की दशा अत्यन्त दयनीय थी। मुसलमानों से आक्रान्त होने के बाद भारत में युद्धोन्माद का आविर्भाव होना स्वाभाविक था। ये लड़ाइयाँ आठवीं शताब्दी से लेकर दसवीं शताब्दी तक उत्तरोत्तर बढ़ती रहीं। इसीलिए हिन्दी साहित्य के आदिकाल में जो अनेक महत्वपूर्ण वीरगाथाएँ मिलती हैं, उनमें रणभेरी का निनाद सुनायी देता है। विविध 'रासो' ग्रंथ इसके प्रमाण हैं। जैसे–जैसे विजेता राजा आगे बढ़े, वीरगाथाओं की संख्या भी बढ़ती गयी। अपने आश्रयदाताओं को प्रोत्साहित करने हेतु अथवा उनका यशोगान करने के लिए चारण लोग उनसे संबंधित गाथाओं की रचना करते थे और तत्संबंधी काव्य-सृजन को अपना कर्तव्य मानते थे।

ऐसी हलचल के युग में लोक-साहित्य सुरक्षित नहीं रह पाया। वह जनमानस में मौखिक रूप से जीवित रहा। बौद्ध और जैन रचनाएँ तो धर्म का सहारा पाकर सुरक्षित रह गयीं परंतु लोक-भाषा की रचनाएँ बनती और परवर्ती काल में परिवर्द्धित होती रही। धार्मिक और राजनीतिक अराजकता के बीच समाज की अस्तव्यस्तता का प्रभाव साहित्य में गोचर होता है। अनेक कृतियों में तत्कालीन आचार-विचार तथा व्यवहार का चित्रण देखा जा सकता है और बदलती विचारधाराओं की अभिव्यक्ति इसकी पुष्टी करती है।

2.2.3. धार्मिक परिस्थिति

इस समय वैदिक तथा पौराणिक धर्म के विविध रूपों के साथ-साथ बौद्ध धर्म के आदर्शों में भी परिवर्तन होते गये। धर्म में बाह्याडम्बरों का समावेश अधिक मात्रा में होने लगा। बौद्ध धर्म का ह्रास हो रहा था। बौद्ध धर्म लोक-धर्म के रूप में प्रतिष्ठित नहीं हो पाया था। शंकराचार्य के प्रबल प्रहारों से बौद्ध धर्म को आघात पहुँचा और प्राचीन वैदिक धर्म बलशाली बनता गया। ऐसे वातावरण में ईसा की बारहवीं शताब्दी के लगभग मध्य में जब मुसलमानों ने बिहार पर आक्रमण किया तो बौद्धों का अस्तित्व ही मिट गया। वैदिक धर्म के अन्तर्गत वैष्णव, शैव, शाक्त आदि अनेक धार्मिक सम्प्रदायों का आविर्भाव हुआ, जिनमें पारस्परिक भेद-भाव प्रबल रहा। राजपूतों ने शैव और शाक्त मतों को आश्रय दिया। बौद्ध-धर्म ने भी शैव–धर्म से प्रभावित होकर अपने को जीवित रखा और इस्लाम धर्म भी भारत में उत्तरोत्तर वृद्धि प्राप्त कर रहा था।

बौद्ध धर्म ने महायान, वज्रयान, सहजयान आदि नाना रूप धारण कर रखा था और बौद्ध धर्म की भाँति वैष्णवों के पाँच रात्र, शैवों के पाशुपत, कालमुख कापालिक और रसेस्वरादि सम्प्रदायों में भी बाह्यचारों को प्रधानता दी गयी और बौद्ध सम्प्रदायों की पूजा-पद्धति का अनुसरण भी हुआ। शाक्तों में आनन्द भैरवी, त्रिपुर सुनदरी तथा ललितादि की अर्चना का यही कारण है। जैन–सम्प्रदाय में भी तांत्रिक वामाचार पद्धति का प्रचार हुआ और भारतीय समाज का एक विशाल क्षेत्र इस वामाचार तथा विकृत धर्म का शिकार बन गया। निम्न वर्ग में उक्त आचार धर्म की प्रधानता थी, किंतु मध्यवर्ग व उच्चवर्ग भी उससे अवश्य प्रभावित थे। अतः वामाचारियों से समाज को आघत पहुँचा। यों तो नाथ पन्थियों ने भी वज्रयान के अनुयायियों की कुछ तान्त्रिक उपासना पद्धतियों को अपनाया और आगे चलकर गोरखनाथ ने योगसाधना की प्रतिस्थापना की, जिसमें संयम तथा आचार का महत्व था।

इस समय भक्ति की धारा दक्षिण में विकसित हो रही थी और तमिलनाडु के आलवार वैष्णव भक्त तथा नायन्मार शैव भक्त लोकहितकारी रूप लेकर सामने आये और कालान्तर में शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, निम्बार्काचार्य आदि ने अपनी-अपनी दार्शनिक विचारधारा का प्रतिपादन करते हुए लोकव्यवहार के लिए शिव तथा नारायण की उपासना पद्धति विकसित की। साथ ही जैनियों की भाँति हिन्दुओं में आचार विचार, व्रत पूजादि की भी वृद्धि हुई। एक ओर वाम-मार्ग की कटु निन्दा की जाने लगी और दूसरी ओर वाममार्गियों ने वैष्णवों का

निरादर करने का भरसक प्रयत्न किया। इस प्रकार धार्मिक वातावरण दूषित होता गया। उत्तर भारत में नारदीय भक्ति का प्रचार बढ़ा। दक्षिण के नवीन भक्ति आंदोलन का प्रभाव, उत्तर भारत में पन्द्रहवीं सदी में दर्शित हैं। उत्तर भारत के पूर्वी तथा पश्चिमी प्रांतों में सिद्धों और नाथों का प्रभाव ही प्रबल रहा, जिसका प्रतिफलन भी साहित्यिक क्षेत्र में, पन्द्रहवीं सदी में गोचर होता है। वस्तुतः यह काल विभिन्न धर्मों, सम्प्रदायों, उपसम्प्रदायों के संघर्ष का युग था और इस संधर्ष के परिणामस्वरूप धर्म और ईश्वर की नयी परिकल्पना उभरी जो कालान्तर में भक्ति-आंदोलन के नाम से जाना गया।

2.2.4. साहित्यिक परिस्थिति

यद्यपि यह युग पारस्परिक कलह और बाह्य संघर्षों का युग था, फिर भी संस्कृत-साहित्य का निर्माण पूर्ण गति से होता रहा और ज्योतिष, दर्शन तथा स्मृति आदि विषयों पर टीकायें लिखी जा रही थी। तत्कालीन कुछ देशी राजाओं ने साहित्य की ओर भी ध्यान दिया। राजा भोज न केवल उच्च कोटि का विद्वान था बल्कि कवियों का आश्रयदाता भी था। उसकी राजसभा में पदमगुप्त व धानिक जैसे विद्वान भी थे और उसकी कृतियाँ भी संस्कृत-साहित्य की निधी हैं। जयदेव जैसे महान कवि, कुन्तक, महिम भट्ट, क्षेमेन्द्र तथा विश्वनाथ जैसे तत्वविद आचार्य और सोमदेव जेसे कवि भी इसी समय हुए। संस्कृत-साहित्य की उन्नति की दृष्टि से यह युग अवश्य प्रभाव नहीं पड़ा। अपभ्रंश तथा देशी भाषा की साहित्यिक प्रतिभा का ह्रास हो रहा था। उनमें धार्मिक विचारों की ही प्रधानता थी और ऐसा प्रतीत होता है कि मानो दैनंदिन जीवन के घात-प्रतिघातों तथा राजनीतिक अशांति से उनका कोई सम्बन्ध ही न था। फिर भी इस काल में वज्रयानी व सहजयानी सिद्धों, नाथपंथी योगियों, जैन धर्म के अनुयायी मुनियों, वीरता एवं श्रृंगार का चित्रण करने वाले चारणों, भाडटों आदि की रचनाएँ भी प्रकाश में आईं। साथ ही इनके अतिरिक्त अन्य विषयों पर भी कुछ कवियों ने अपनी कविताएँ प्रस्तुत की और विचारक कहते हैं कि "इस काल की रचनाओं में हिन्दी की बुनियाद मिलती है, हिन्दी का बीज मिलता है। यहाँ हम हिन्दी की उस 'नींव की ईंट' को देखते हैं, जो हिन्दी की भव्य इमारत की आधारशिला है। "

इस काल में कवियों पर बड़ा उत्तरदायित्व था। एक ओर तो कविगण जन-जन में वीरता की भावनाएँ भर रहे थे और दूसरी ओर स्वयं युद्ध क्षेत्र में आगे जाते थे। इस कारण उस समय के साहित्य में अधिकतर युद्ध वर्णन अत्यंत स्वाभाविक होता था। उस समय कवि मात्र कल्पना पर ही काव्य-सृजन नहीं करते थे, अपितु उन्होंने युद्ध के प्रत्येक स्थल का आँखों देखा वर्ण किया है। इसी के फलस्वरूप युद्धों के शब्द चित्र बड़ा ही स्वाभाविक मिलता है। तत्कालीन परिस्थितियाँ स्पष्ट रूप में गोचर होती हैं। इसका सबसे अधिक श्रेय उस काल के कवियों को है, जिन्होंने अपनी वाणी के द्वारा जन-जन में राष्ट्रीय भावना को भर दिया। उस समय मांगलिक लोक-गीतों में भी राष्ट्रीय भावना निहित थी। वीरता की भावना को जगाने के लिए कवियों ने कविता का सहारा लिया और उस डगमगाते समय में भी वे स्थिर रहकर तत्कालीन परिस्थितियों का चित्रण बड़ी ही कुशलता से कर पाये। उन्होंने ऐसी कविता की रचना की जिसमें वह शक्ति हो जो मानवमात्र में प्राणों का संचार तथा शक्ति, साहस की भावना भर सके। कवियों ने इतने मनोवैज्ञानिक ढंग से चित्रण किया है कि वे आज भी प्रशंसनीय हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि वीर रस के अतिरिक्त अन्य किसी रस युक्त रचना इस काल में नहीं हुई। विद्वानों की गणना द्वारा पता चलता है कि श्रृंगार रस की रचनाएँ भी अधिक मात्रा में लिखी गयी हैं। श्यामसुंदरदास इस काल की श्रृंगार की प्रवृत्तियों के संबंध में लिखते हैं - "वीरों को युद्ध के उपरान्त विश्राम काल में मन बहलाने के लिए प्रेम की आवश्यकता होती है और काव्य में भी रसराज श्रृंगार के बिना काम नहीं चल सकता। सारांश यह है कि उस काल की वीरगाथाओं में श्रृंगार कभी-कभी वीरता का सहकारी और कभी-कभी उसका उत्पादक बनकर आया है और बराबर गौण स्थान का अधिकारी रहा है। " तात्पर्य यह है कि वीरगाथा काल में श्रृंगार की भी प्रचुरता है, किंतु वह वीर रस के लिए ही उपयुक्त हुआ है। उस समय के कवि अपने राजा की सेना में तो वीरता के भावों को भरते थे, किंतु उनके आदर्श सीमित ही थे।

2.3 समाहार

वीरगाथा काल का काव्य वीरगीतों तथा प्रबंध काव्य के रूप में मिलता है। उस समय के विलास का भी चित्र स्वतः आ गया है। कवि समाज के प्रतिनिधि नहीं थे, अपितु अपने आश्रयदाताओं के सेवक थे। कवि स्वयं सेनापति भी थे। अतः युद्धों का तबड़ा ही स्वाभाविक चित्र मिलता है। श्यामसुन्दरदास के शब्दों में "न तो इन वीरगीतों में दार्शनिक तत्वों का समावेश ही है और न ही इनमें प्राकृतिक दृश्यों का मनोरम चित्रण है। इनके शब्दों में एक मुक्त प्रवाह मिलता है। वे तुकान्त आदि के बन्धनों में जकड़े हुए नहीं हैं।" इस प्रकार इस काल का साहित्य तीन रूपों में रचा गया-राज्याश्रित, धर्माश्रित तथा लोकाश्रित। संस्कृत-साहित्य विभिन्न राज-दरबारों में संरक्षण पाकर आगे बढ़ा। अपभ्रंश-साहित्य पश्चिम में जैन-धर्म का आश्रय पाकर और पूर्व में सिद्धों और नाथों का संरक्षण पाकर आगे बढ़ा। अतः इस युग की साहित्यिक पृष्ठभूमि अत्यंत समृद्ध रही।

2.4 शब्दकोश

- **तत्कालीन**: उस समय या उसी समय का।
- **राजनीति:** राजनीति दो शब्दों का एक समूह है राज+नीति। (राज मतलब शासन और नीति मतलब उचित समय और उचित स्थान पर उचित कार्य करने की कला) अर्थात् नीति विशेष के द्वारा शासन करना या विशेष उद्देश्य को प्राप्त करना राजनीति कहलाती है। दूसरे शब्दों में कहें तो जनता के सामाजिक एवं आर्थिक स्तर (सार्वजनिक जीवन स्तर) को ऊँचा करना राजनीति है ।
- **सामाजिक:** सामाजिक शब्द का शाब्दिक अर्थ सजीव से यह शब्द समाज+ईक प्रत्यय से बना है चाहे वो मानव जनसंख्या हों अथवा पशु। यह एक सजीव का अन्य सजीवों के साथ सह-अस्तित्व तथा निरपेक्षता का सूचक शब्द है।
- **धार्मिकता:** आम तौर पर धार्मिक रीति-रिवाजों का यथाविधि पालन सच्ची धार्मिकता माना जाता है। विभिन्न पर्व-उत्सव, व्रत-उपवास, तिथियां

आदि को विधानपूर्वक मनाना और मानना धार्मिकता की उचित परिभाषा समझी जाती है।

- **साहित्यिक** : साहित्य संबंधी या साहित्य का, साहित्य से संबंधित; साहित्य का साहित्य के अंतर्गत; साहित्य के अनुरूप।

2.5 प्रगति की जाँच

1. उस काल के चीनी यात्री _____ के वर्णनों से तत्कालीन भारतीय परिवेश का भव्य सुन्दर चित्र प्राप्त होता है।

(अ) हुएन्संग

(आ) कालिया

(इ) हर्ष

(ई) सोमा

2. राजनीति दो शब्दों का एक समूह है _____ राज+नीति।

(अ) रण+नीति

(आ) चरण+नीति

(इ) राज+नीति

(ई) यात्रा+नीति

3. धार्मिक रीति-रिवाजों का यथाविधि पालन सच्ची_____ माना जाता है।

(अ) समाजोद्धार

(आ) धार्मिकता

(इ) संघर्ष

(ई) तीव्रता

4. _____ समाज का दर्पण है।

(अ) यथार्थ

(आ) भविष्य

(इ) जीवन

(ई) साहित्य

5. हिन्दी-साहित्य का _____ विवादग्रस्त है।

(अ) आदिकाल

(आ) प्रात: काल

(इ) दो प्रहर

(ई) सायं काल

2.6 बोध प्रश्न

6. हिंदी साहित्य के आदिकालीन परिस्थितियों पर प्रकाश डालिए।
7. हिंदी साहित्य के आदिकालीन परिस्थितियों पर प्रकाश हुए, राजनैतिक परिस्थितियों का योगदान स्पष्ट कीजिए।
8. हिंदी साहित्य के आदिकालीन परिस्थितियों पर प्रकाश डालते हुए, धार्मिक परिस्थितियों का औचित्य समझाइए।
9. आदिकाल के तत्कालीन परिस्थितियों पर प्रकाश डालिए।

2.7 सहायक ग्रंथ

6. हिंदी साहित्य का इतिहास- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल।
7. हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास- डॉ.रामकुमार वर्मा।
8. हिंदी साहित्य का उद्भव और विकास- आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी।
9. हिंदी साहित्य का इतिहास- डॉ.नगेन्द्र।
10. हिंदी साहित्य युग और प्रवृत्तियाँ- डॉ.शिवकुमार शर्मा।

*****

इकाई-03

आदिकाल की प्रवृत्तियाँ

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.3 आदिकाल की प्रवृत्तियाँ

3.3.1 सिद्ध-साहित्य

3.3.2 नाथ-साहित्य

3.3.3 जैन-साहित्य

3.3.4 अपभ्रंश-साहित्य का प्रभाव

3.3.5 वीरगाथा-साहित्

3.3.6 वीरगाथा-साहित्य की विशेषताएँ

3.3.7 फुटकल रचनाएँ

3.3.8 गद्य-साहित्य

3.3.9 आदिकालीन गद्य की विशेषताएँ

3.4 समाहार

3.5 शब्दकोश

3.6 प्रगति की जाँच

3.7 बोध प्रश्न

3.8 सहायक ग्रंथ

3.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन के बाद आप-

- आदिकाल के विभिन्न परिस्थितियों से अवगत होंगे।
- सिद्ध, नाथ, जैन मत के विभिन्न विचारों से परिचित होंगे।
- अपभ्रंश भाषा का प्रभाव जान सकेंगे।
- वीरगाथा तथा फुटकल रचनाओं की प्रवृत्ति जान सकेंगे।
- आदिकालीन गद्य-साहित्य की विशेषताएँ समझ पाएँगे।

3.1 प्रस्तावना

आदिकाल साहित्य की प्रमाणिकता संदिग्ध होते हुए भी उसके महत्व को भुलाया नहीं जा सकता। इसका आरंभ कविता से ही हुआ है। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में गद्य-पद्य दोनों रूपों में काव्य रचना की प्रधानता थी। हिंदी से पहले की सभी भाषाएं जन भाषाएं न हुआ करती थी वह किसी विशिष्ट जाति समुदाय अथवा वर्ग के लिए हुआ करता था।

आदिकालीन साहित्य को हमने विषय की दृष्टि से तीन वर्गों में विभक्त किया है-धर्म संबंधी काव्य, चारण कवियों द्वारा रचित रासो काव्य तथा लौकिक तथा स्फूट साहित्य । धर्म संबंधी काव्य के अंतर्गत नाथ, सिद्ध तथा जैन साहित्य का विवेचन किया गया है। वस्तुतः इन तीनों संप्रदायों के साहित्य का मुख्य विषय धर्म तथा साधना पक्ष का प्रचार प्रसार काव्य के माध्यम से करना है। यद्यपि जैन कवियों ने केवल धर्म संबंधी साहित्य की रचना ही नहीं की है, अपितु उन्होंने 'रासो' के नाम से भी काव्य रचना की तथा स्फुट लौकिक साहित्य में भी योगदान दिया। परंतु इस वर्ग के अंतर्गत केवल उनके धर्मोपदेश संबंधी साहित्य की ही चर्चा की गई है। उनके द्वारा रचित रासो कृतियों की चर्चा हम रासो काव्य के अंतर्गत करेंगे।

चारण कवियों द्वारा रचित 'रासो काव्य' वर्ग के अंतर्गत उस काल में 'रासो' के नाम से लिखे गए वीरगाथात्मक साहित्य का विवेचन किया गया है। वस्तुतः रासो काव्य लेखन उस

युग की प्रमुख प्रवृत्ति मानी जाती है। रासो साहित्य की मुख्य रूप से तीन प्रवृत्तियाँ मानी जाती हैं- वीरगाथात्मक रासो काव्य, शृंगारपरक रासो काव्य, तथा धार्मिक रासो काव्य।

'लौकिक तथा स्फुट साहित्य' के अंतर्गत उन फुटकर कवियों तथा काव्य कृतियों का विश्लेषण किया गया है जिन्होंने लीक से हटकर काव्य लेखन के क्षेत्र में कुछ नवीन कार्य किया। इस वर्ग के कवियों में अमीर खुसरो तथा विद्यापति का नाम विशेष रूप से लिया जाता है। अमीर खुसरो ने ही सर्वप्रथम खड़ी-बोली को काव्य लेखन का माध्यम बनाया तथा पहेलियों एवं मुकरियों के लेखन की शुरूआत की। विद्यापति ने राधा-कृष्ण को नायक-नायिका मानकर जिस शृंगारिक काव्य लेखन की प्रवृत्ति को अपनाया वह रीतिकाल में अपनी पूर्णता में द्रष्टव्य है।

प्रवृत्ति के आधार पर आदिकाल में साहित्य का सृजन हुआ है, जो अधिक महत्व रखता है। इस इकाई में आप उस आदिकाल के साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियों के विषय में विस्तृत जानकारी प्राप्त करेंगे।

3.3. आदिकाल की प्रवृत्तियाँ

आदिकालीन हिन्दी-साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियों की चर्चा करते समय डॉ.हजारी प्रसाद द्विवेदी का यह कथन उल्लेखनीय है - "दो प्रकार के साहित्यिक प्रयत्न इस काल में प्रमुख हैं–एक तो बौद्ध और नाथ सिद्धों की तथा जैन मुनियों की रूक्ष तथा उपदेशमूलक और हठयोग या कायायोग की महिमा प्रचार करने वाली रहस्यमूलक रचनाएँ। इनका उद्देश्य रस–सृष्टि नही था। साहित्य के इतिहास में दो कारणों से इनका महत्व है। एक तो परवर्ती धार्मिक काव्य-रूपों के विकास में यह सहायक है और उस धार्मिक पृष्ठभूमि को समझने में सहायता पहुँचाती है, जिनके बिना हम काव्य प्रयत्नों को समझ ही नहीं पायेंगे. और दूसरे इनके अध्ययन से उस युग की भाषा-शैली, छन्द-विधान आदि का अध्ययन सुकर होना है। इन दो दृष्टियों से इन रचनाओं का महत्व है। फिर इन रचनाओं में सत्य को कभी-कभी बड़ी प्रभावशाली भाषा में प्रकट किया गया है, जो तत्कालीन रूढ़ि प्रवण धर्म के विचारों से जकड़े मनुष्य को विद्युत की चमक के समान सत्य को उद्भाषित कर देता है। मनुष्य चित्त को

रूढ़िग्रस्त धर्मभावना से मुक्त करके और सहज सत्य के प्रति उन्मुक्त करके उन्होंने परवर्ती भक्त कवियों के लिए क्षेत्र प्रस्तुत किया है।

दूसरी श्रेणी में चारण कवियों के चरित काव्य हैं, जिनमें राजस्तुति, युद्ध, विवाह आदि के वर्णन हैं। साधारणतः इनमें परम्परा से प्राप्त काव्य रूढ़ियों के साँचे में ढली हुई चिरपरिचित कथानक रूढ़ियों से पद्मी हुई और बंधे बँधाये मार्ग में चली आती हुई कविता ही प्राप्त होती है। सिर्फ एक बात में इनमें नवीन प्राणों का स्पन्दन सुनाई देता है और नवीन भाव-भंगिमा की ताजगी की अनुभूति होती है। वह है इस श्रेणी की रचनाओं की वीर दर्पोक्तियाँ। इस साहित्य के पुरुष स्वामि के लिए हँसते-हँसते प्राण देते हैं, मदमत्त कुंजर घटा में घंस जाते हैं, दुर्घर्ष शत्रु वाहिनी से अकेले भी भिड़ पड़ते हैं और उनकी स्त्रियाँ पति के इस वीरत्व पर अभिमान करती हैं और मन-वचन-कर्म से पति के साथ सूर्यमण्डल को भेद कर अज्ञात अनुभूतिमय आनन्य लोक की यात्रा करने के लिए सदा प्रस्तुत रहती हैं। "

उक्त दो प्रवृत्तियों के साथ-साथ तीसरी प्रवृत्ति यह है कि इस काल में ऐतिहासिक व्यक्तियों के आधार पर चरित-काव्य लिखने की प्रथा भी चली है और डॉ.द्विवेदी के अनुसार "इनमें कोई ऐतिहासिक पुरुष कवियों के आश्रयदाता हुआ करते थे। चन्द के आश्रयदाता पृथ्वीराज थे और विद्यापति के आश्रयदाता कीर्तिसिंह। इन आश्रयदाताओं का चरित्र लिखते समय भी उसे धार्मिक रंग देने का प्रयत्न किया जाता था। रासों में कवि चन्द की स्त्री ने प्राकृत राजा के यशवर्णन को अनुचित कहा था। उसने बताया था कि साधारण राजा का यश गाने की अपेक्षा भावना का यश गाना कही अच्छा है। इस पर कवि ने विस्तार से दशावतार चरित का वर्णन किया..... ऐसा लगता हे ससोकार ने पृथ्वीराज को भगवत स्वरूप बताकर कहानी में थोड़। धार्मिकता का रंग देना चाहा था। कीर्तिलता के कवि ने भी पाठक को कुछ पुण्यलाभ का प्रलोभन दिया था - 'पुरुष कहाणी हों कहा जसु पत्यवें पुत्रु। ' इसका कारण यही था कि इस काल को रूप और गति देनेवाली शक्ति धर्म-भावना ही थी। धार्मिक समझे जाने वाले साहित्य को कुछ अधिक सावधानी से सुरक्षित रखा गया था। इसलिए वह कुछ अधिक मात्रा में मिलता भी है। प्रायः इन धर्मग्रन्थों के आवरण में सुन्दर कवित्व का

विकास हुआ। तत्कालीन काव्यरूपों और काव्य विषयों के अध्ययन के लिए इनकी उपयोगिता असंदिग्ध है। "

इस काल की चौथी प्रवृत्ति लौकिक रचनाएँ लिखने की भी रही है और 'संदेशरासक, 'स्वयंभू छन्द' आदि कृतियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं। 'संदेशससक' की कहानी अत्यंत सरल व मर्मस्पर्शी है और उसमें विरहणी की आंतरिक अनुभूतियों का हृदयस्पर्शी अभिव्यंजना हुई है। साथ ही उक्त चार मूल प्रवृत्तियों के अतिरिक्त अन्य प्रकार की कुछ कृतियों भी मिलती हैं, जैसे अमीर खुसरो की पहेलियाँ और विद्यापति की पदावली आदि। अपभ्रंश साहित्य को हिन्दी की पूर्व-पीठिका माना जाता है। इस साहित्य का हिन्दी भाषा के विकास में महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। हिन्दी साहित्य के आदिकाल में अपभ्रंश भाषा ही अधिक व्यवहृत हुई है। सिद्धों जैन आचार्यों, योगियों आदि के ग्रंथों की भाषा अपभ्रंश है।

3.3.1. सिद्ध - साहित्य

आठवीं शताब्दी तक आते-आते धर्म विकृत होकर वज्रयानी सम्प्रदाय के रूप में पूर्वी भारत में व्यापक होने लगा था। इस सम्प्रदाय के अनुयायी सिद्ध कहे जाते थे जिनकी संख्या 84 बतायी जाती है। ये लोग वामाचारी थे और पांच प्रकारों (1) मानिक. (2) मदिरा. (3) मच्छ. (4) मांस. (5) मैथुन की उपासना करते थे। जनता को प्रभावित करने के लिए इन्होंने जन-भाषा में कविता की परन्तु अपनी साधना-पद्धति को गुप्त रखने के लिए 'सन्ध्या भाषा' का प्रयोग किया जो ऐसी अटपटी होती थी कि साधारण जनता उसे समझ नहीं पाती थी। इसलिए जनता में उसका प्रचार नहीं हो सका। ये लोग चमत्कार द्वारा जनता को प्रभावित और आतंकित करते रहते थे और अनात्मावादी थे। ईश्वर को निर्गुण और अनिर्वचनीय भानते थे। वेद, ब्राह्मण, पूजा-पाठ आदि का खण्डन कर शून्यवाद, रहस्यवाद और सहजमार्ग का प्रचार करते थे। सिद्ध-साहित्य का महत्व इस कारण माना जाता है कि यह हिन्दी-साहित्य की आदिधारा है। इसने परवर्ती सन्त कवि कबीर आदि को प्रभावित किया था। लेकिन अभी तक यह साहित्य पूर्ण रूप से उपलब्ध नहीं है। सिद्धों की तिथियों के विषय में भी विद्वानों में मतभेद है। सिद्धों की भाषा के संबंध में भी मतभेद है। वस्तुतः सिद्धों की परम्परा बौद्ध-धर्म

के सिद्धांतों की एक प्रकार की विकृति ही है। इसमें कोई संदेह नहीं कि देश की परिवर्तित परिस्थितियों ने बौद्ध-धर्म के सिद्धान्तों में जिन नवीन भावनाओं की सृष्टि की, उन्हीं के परिणामस्वरूप सिद्ध-साहित्य की रूप-रेखा प्रस्तुत हुई है। ईसा की पहली शताब्दी के लगभग बौद्ध-सम्प्रदाय महायान और हीनयान नामक दो खण्डों में विभाजित हो गया और कालान्तर में उनके भी भेद-उपविभेद हुए। इस संबंध में कहा जाता है कि महायान द्वारा गौतम बुद्ध को देवत्व प्रदान करने के फलस्वरूप उनके उपदेश भी अलौकिक समझे जाने लगे। अतः साधना की सरलता, सदाचार की महानता और कर्म के परिष्कार के लिए जो बौद्ध धर्म प्रसिद्ध था, वहीं साधना की उलझनों, सन्त्रों की जटिलताओं और योगसमाधि यथा काकिनी-शाकिनी की सिद्धि के लिए उन्मुख हो उठा। महायान की यह सुगम साधना मंत्रयान के रूप में परिविर्तत हुई और सन् 400-700 ईसवी के लगभग तो इसका प्रचार व्यापक रूप से होने लगा। महायान की इस नवीनतम शाखा में मंत्रों को ही विशिष्टता प्रदान की गयी और इसके अनुयायियों को विश्वास हो गया कि अपने अभिष्ट की प्राप्ति के हेतु इन मंत्रों की साधना ही नियमित रूप से आवश्यक है। साथ ही इसके समान्तर वाममार्ग की धारा भी महायान सम्प्रदाय में प्रवाहित होने लगी और वह महायान के साथ-साथ वाममार्ग की विकृतावस्था का हीन चित्र भी प्रस्तुत करने लगी। बौद्ध साधक जो मंत्रों द्वारा सिद्धि प्राप्त करने पर विश्वास करते थे. वे सिद्ध कहलाने लगे। मन्त्रयानी साधनाओं के विविध प्रयत्नों द्वारा धन-संग्रह की ओर ध्यान देने लगे और इसके फलस्वरूप उनमें विलासिता की भी प्रवृत्तियाँ उदय होने लगीं तथा मंत्रयान के विकास की ऐसी चरमायस्था आ गयी जब कि वह 'भौरवी चक्र' के रूप में सदाचार की अवहेलना करने लगा और फलतः वज्रयान के रूप में परिवर्तित हो गया।

वज्रयान के प्रचारकों में प्रसिद्ध चौरासी सिद्धों की गणना की जाती है। कजो कि अपनी अलौकिक शक्ति-सम्पत्रता, सिद्धियों और विभूतियों के लिए प्रसिद्ध थे। इन सिद्धों में प्रायः सभी वर्ण के साधक थे। अतः स्वाभाविक ही इनमें वर्ण-भेद की भावना नहीं थी। यह वज्रयानी सम्प्रदाय ही शनैः-शनैः आगे चलकर सहजयान सम्प्रदाय के रूप में परिवर्तित हो गया। चौरासी सिद्धों में बहुत से ऐसे थे जो कि वस्तुतः सफल साधक सिद्ध थे साधना के

वास्तविक रहस्य से विज्ञ भी थे। इसीलिए उन्होंने उक्त साधना के वास्तविक स्वरूप का नाम 'सहज' रखा और उसके द्वारा 'सहज सिद्ध' अथवा समस्त सिद्धियों को सुगमता के साथ प्राप्त करना सम्भव समझा। 'सहजयान सम्प्रदाय' के साधकों ने मंत्रयान और वज्रयान में प्रचलित मंत्रादि बाह्य-साधनाओं की उपेक्षा कर योग एवं मानसिक शक्तियों के विकास पर ही विशेष ध्यान दिया। सहजयान सम्प्रदाय के चौरासी सिद्धों का समय वि. 797 से 1257 वि. सं. तक माना जाता है यद्यपि सिद्धों की परम्परा आगे भी चलती रही है।

महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने चौरासी सिद्धों की गणना करते समय लुइया का नाम सब पहले दिया और सरहपा को छठा स्थान देते हुए उनका समय सं. 817 माना है परंतु डॉ.विनयघोष भट्टाचार्य ने सरहपा को ही सिद्धों का आदिम सिद्ध मानते हुए उनका समय सं. 690 कहा है। साथ ही चौरासी सिद्धों में से अधिकांश ने अपने सिद्धांतों का प्रतिपादन कविता द्वारा ही किया है और सरहपा. शवरपा, भुसुकपा, लुइपा, विरूपा, दारिकपा, गुंडरीपा, गोरक्षपा, तिलापा, शांतिपा, घंटापा, जालंधरपा. कण्हपा आदि प्रमुख सिद्ध हुए हैं और उनकी काव्यकृतियाँ उपलब्ध हैं। सिद्धों की काव्यकृतियों में प्रधान रूप से नैराश्य भावना, कायायोग, सहज शून्य की साधना और भिन्न प्रकार की समाधिजन्य दशाओं का चित्रण किया गया है। यह सिद्ध-साहित्य शाताब्दियों से आनेवाली धार्मिक और सांस्कृतिक विचारधारा का स्पष्ट उल्लेख है तथा इसमें कोई संदेह नहीं कि इसके द्वारा धार्मिक श्रुंखला और भी सुदृढ़ हो गयी है। इसी प्रकार भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भी सिद्ध-साहित्य का महत्व निरूपित किया जाता है, पर सिद्धों ने किसी सुसंस्कृत भाषा को व्यवहार में न लाकर सर्वमान्य जनता की भाषा का उपयोग किया है। यद्यपि कुछ विद्वानों ने सिद्ध-साहित्य की भाषा को 'सांध्य भाषा' कहा है पर अधिकांशतः वह मागधी अपभ्रंश से निकली अवधी है और डॉ. रामकुमार वर्मा का कहना है - "सिद्धों की भाषा जन-समुदाय की भाषा का आश्रय लेकर अपभ्रंश की उस अवस्था का संकेत करती है, जिसमें आधुनिक भाषा के चिह्न विकसित होने लगे थे। " सिद्ध-काव्य में श्रुंगार और शांत रस का सन्निवेश कुशलतापूर्वक है और विविध राग-रागिनियों की भी योजना हुई है। दोहा, सोरठा छप्पय और चौपाई आदि छन्दों का सफल प्रयोग हुआ है। सिद्ध-साहित्य ने हिन्दी-गीति को ही

विशेष रूप से अलंकृत किया और उसमें रहस्यवादी भावधारा भी दर्शनीय है। इसप्रकार सिद्ध साहित्य का अपना विशिष्ट महत्व है। आगे चलकर यद्यपि कबीर ने सिद्धों की कटु आलोचना की, तथापि उनकी शब्दावली और सांकेतिक भाषा को उन्होंने ग्रहण किया। सिद्धों की रचना के कुछ उदाहरण निम्नांकित हैं -

"जेहनि तँइ बिनु खनहि न जीवमि।
सो मुह चुम्बी कमलरस पिवमि। ।"

-गुंडरीपा

["योगिनी! मैं तेरे बिना क्षण भर के लिए भी जीवित नहीं रहता। मैं तो तेरे चुम्बन के द्वारा कमलरस का पान करता हूँ। "]

"तो विणु तरुणि णिरन्तर णेहें।
वोहि कि लम्भइ एण वि देहें। ।"

["हे तरुणी! तेरे प्रति विना निरंतर स्नेह के, इस देह के द्वारा ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। "]

"जिम लोण विलिज्जइ पाणिएहि, निम धरिणि लइचित।
समरस जाइ तक्खणे, जइ पुणु ते सग णित्त। ।"

- कण्हपा

["जिस तरह नमक पानी में घुल जाता है, उसी तरह धरिणी से प्रेम में लीन हो जाने से तत्काल समरस की अवस्था उत्पन्न हो जाती है, यदि वह हमेशा स्थिर रहे। "]

सिद्धों ने अपनी रचनाओं द्वारा लोगों का ध्यान अन्तर्मुखी योग की ओर आकृष्ट किया। वे संस्कृत के अतिरिक्त प्रायः अपब्रंश-मिश्रित देश-भाषा का प्रयोग किया करते थे। नालंदा और विक्रमशिला उनके केंद्र थे।

3.3.2 नाथ साहित्य

बौद्धों की वज्रयान शाखी से ही संबंधित गोरखनाथ का नाथ-पंथ है। वे देवता और सर्वशक्तिशाली व्यक्ति के रूप में माने जाते हैं। वास्तव में गोरख-पंथ सिद्ध-युग और संत-युग की कड़ी के रूप में स्थित है। सिद्धों के वामाचार के विरोध में नवी और दस--- से नेपाल की तराई में एक नया सम्प्रदाय उदि। हुआ जो नाथ-सम्प्रदाय कहलाया। ये लोग शिव के उपासक थे और शिव को ही आदिनाथ गानते थे। इसके प्रवर्तकों में मत्स्येन्द्रनाथ, जालन्धरनाथ और गोरखनाथ प्रमुख माने जाते हैं। परंतु इसे एक सम्प्रदाय का पूर्ण रूप गोरखनाथ ने ही दिया था। गोरखपंथी साधु सारे भारतवर्ष में पाये जाते हैं। नाथ-पंथी योगी कानों में कुंडल पहनते हैं जिनसे उन्हें कनफटा साधु भी कहा जाता है। इनकी वेशभूषा अनोखी होती है. जिसमें मेखला, सृंगी, सेली, घँघारी, सोटा, गूदरी, बाघम्बर, रुद्राक्ष की माला आदि धारण की जाती हैं। ये लोग जीवात्म और परमात्मा दोनों की अद्वैतता में विश्वास करते हैं। एक प्रकार से ये लोग अद्वैतवादी हैं। अपनी साधना में इनके सहीं हठयोग गर विशेष बल दिया गया है। इसलिए इन्हें हठयोगी भी कहते हैं। हठयोग में शरीर को विभिन्न प्रकार के कष्ट देकर शुद्ध करने की प्रथा है। इनके अनुसार शरीर को पूर्ण रूप से शुद्ध कर कुंडलिनी को जागृत और ऊर्ध्वमुखी करने से मोक्ष की प्राप्ति होती है। इन नाथ-पंथियों ने सबसे बड़ा काम यह किया था कि सिद्धों द्वारा प्रचारित वाममार्ग की मांस, मंदिरा और नारी की साधना का खण्डन कर जीवन को सात्विकता की ओर मोड़ा था। गोरखनाथ के पूर्ववर्ती सिद्धों में व्यभिचार पराकाष्ठा पर पहुँच चुका था। नारी के बिना उनकी साधना अधूरी मानी जाती थी। गोरखनाथ अपनी साधना में नारी को पूर्ण रूप से बहिष्कृत कर अखण्ड ब्रह्मचर्य के पालन पर बल दिया। इस कारण तत्कालीन समाज में इनका प्रभाव बढ़ा।

आदिकालीन नाथपंथी साहित्य की परस्परा में प्रसिद्ध नौ नाथों के संबंध में विद्वानों ने अगने विभिन्न मत व्यक्त किये हैं। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'महावर्ण तन्त्र' के आधार पर गोरखनाथ, जालधरनाथ. नागार्जुन. सहस्रार्जुन. दत्तात्रेय. देवदत्त. जड़भरत. आदिनाथ तथा मत्सोन्द्रनाथ नामक नौ नाथ माने हैं . पर 'योगि-सम्प्रदाय विष्कृति' में नव नारायणों के नाथों के रूप में अवतरित होने की कथा दी गयी है। इसी प्रकार कुछ अन्य नौ नाथ भी बतलाये गये हैं और श्याम नन्दन प्रसाद सिंह ने इन नौ नाथ माने हैं-नागार्जुन, जड़भरत,

हरिश्चन्द्र, सत्यनाथ, भीमनाथ, गोरखनाथ, चर्पट, जालन्धर और मलयार्जुन। यद्यपि नाथ-सम्प्रदाय का प्रवर्तक भगवान शंकर को माना जाता है पर मानव गुरूओं में मत्स्येन्द्रनाथ को नाथ पंथ का सर्वप्रथम आचार्य स्वीकार गया है। लेकिन मत्स्येन्द्रनाथ को नाथ पंथ का सर्वप्रथम आचार्य मानते हुए भी अधिकांश विचारक गोरखनाथ जिन्हें गोरक्षपा भी कहा जाता है, उन्हीं को नाथ पंथ को संगठित कर सुव्यवस्थित रूप प्रदान करने का श्रेय प्राप्त है। अब नाथ पंथ का जो रूप जीवित है वह मुख्यतः गोरखनाथी योगियों का समप्रदाय है, जिन्हें कनफटा योगी या बारहपंथी योगी भी कहा जाता है।

नाथपंथी साधकों का साहित्य अल्प प्रमाण में प्राप्त होता है और मत्स्येन्द्रनाथ द्वारा रचित संस्कृत की जो पुस्तकें कही जाती हैं, वे अब तक प्रकाश में नहीं आयीं। इसी प्रकार गहणीनाथ, चर्पटनाथ, ज्वालेन्द्रनाथ, भर्तृनाथ और गोपीनाथ के नाम पर प्रचलित जो लोक गीत उपलब्ध होते हें, उन्हें निर्विवाद रूप से प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। गोरखनाथ के नाम पर कई ग्रंथ प्रचलित हैं, पर उनकी जो संस्कृत कृतियाँ उपलब्ध हैं, उनकी प्रामाणिकता के संबंध में विचारक एकमत नहीं हैं। डॉ.पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने गोरखनाथ की रचनाओं का संग्रह 'गोरखबानी' नाम से प्रकाशित किया है। यह भी कहा जाता है कि गोरखनाथ ने मराठी में भी ग्रंथों की रचना की है और उनके नाम से एक गद्य का अवतरण भी प्रस्तुत किया जाता है।

नाथपंथियों की साधना-पद्धति के संबंध में डॉ.रामकुमार वर्मा का कथन उल्लेखनीय है - "जीवन के जिस रूप को सिद्धों ने कर्मकाण्डों के जाल से मुक्त कर सहज रूप दिया था उसे सम्प्रदाय के रूप में आगे बढ़ाने का श्रेय नाथों को ही दिया जाना चाहिए। इस प्रकार नाथ-सम्प्रदाय को सिद्ध-सम्प्रदाय का विकसित और शक्तिशाली रूप ही समझना चाहिए। सिद्धों की विचारधारा और नके रूप को लेकर ही नाथ वर्ग ने उनमें जीवि विचारों की प्रतिष्ठा की और उनकी व्यंजना में अनेक तत्वों का सम्मिश्रण किया। इस शैली का अनुसरण करते हुए उन्होंने निरीश्वरवादी शून्य को ईश्वरवादी शून्य बना दिया। नाथ-सम्प्रदाय पर कौल पंथ के कुछ प्रभाव हैं। कौल पंथ में अष्टांगयोग की जो भागवना है वह साधना रूप से नाथ-सम्प्रदाय में अवश्य चली आई हैं, किंतु अभिचारों में प्रवृत्ति का तीव्रतम विरोध नाथ-

सम्प्रदाय ने किया है। यद्यपि दार्शनिकता की दृष्टि से नाथ पंथ शैव मत से प्रभावित जान पड़ता है, पर व्यवहारिकता कि दृष्टि से वह पतंजलि के हठयोग से सम्बन्ध रखता है। "

नाथपंथियों में शिव-भक्ति की भावना पायी जाती है। यद्यपि कबीर द्वारा प्रवर्तित संत-साहित्य पर सिद्धों का भी प्रभाव है, किंतु उनकी नींव नाथ-पंथ ने ही डाली थी। नाथपंथियों की भाषा पुरानी पश्चिमी हिन्दी की बोलियों के एक मिश्रित रूप में थी। उनकी रचनाओं में तांत्रिक-विधान, योग-साधना, आत्म-निग्रह, श्वास-निरोध आदि बातें पायी जाती हैं। नाथ साहित्य के कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं –

"नाथ निरंजन आरती गाऊँ।

गुरदयाल अग्यां जो पाऊँ। । टेक।।

जहाँ अनंत सिधा मिलि आरती आई। तहाँ जम की बाच न नैड़ी आई। ।

जहाँ जोगेसुर हरि कूँ ध्यावैं।

चंद्र सुर तहाँ सीम नवावैं। ।

मछिंद्र प्रसादें जती गोरषनाथ आरती गावै।

नूर झिलमिल दीसै तहाँ अनत न आवै। ।"

-गोरखनाथ

["यदि दयालु गुरू की आज्ञा पाऊँ तो मैं परब्रह्म निरंजन नाथ की आरती गाऊँ। जहाँ अनंत सिद्ध मिलकर आरती गाते हैं, वहाँ यम की हवा पास भी नहीं फटकती। जहाँ योगेश्वर हरि का ध्यान लगाए रहते हैं, वहाँ चन्द्रमा और सूर्य भी शीश नवाते हैं। मत्स्येन्द्रनाथ के प्रसाद से गोरखनाथ आरती गाता है। उसे परब्रह्म का झिलमिलाता प्रकाश दिखाई देता है, वह अन्यत्र (प्रकाश) नहीं आता। "]

"तूंबी मैं तिरलोक समाया त्रिवेणी रिब चंदा।

बूझों से ब्रंभ गियानी अनहद अभंगा। ।"

["माया की तूंबी में त्रिलोक, त्रिवेणी (त्रिकुटी) और सूर्य-चन्द्र समाये हुए हैं। इसलिए है ब्रह्मज्ञानी। अखंड़ अनहद नाद को समझों। "]

'गोरख - बोध', 'दत्त गोरख संवाद', 'गोरखनाथजी के पद', 'योगेश्वरी साखी', 'गोरख सार', 'महादेव गोरख संवाद' आदि गोरखनाथ के ग्रंथ माने जाते हैं।

3.3.3 जैन - साहित्य

जैन आचार्यों ने अपने धर्म का प्रचार करने के लिए अपभ्रंश में कई ग्रंथ लिखे थे। उनमें हिन्दी का पूर्व-रूप मिलता है। इन्हीं रूपों से प्रभावित होकर प्रसिद्ध जैनाचार्य हेमचन्द्र ने "सिद्ध हेमचन्द्र शब्दानूशासन" नामक अपने व्याकरण ग्रंथ में तत्कालीन हिन्दी के रूपों का संग्रह किया था। इसी ग्रंथ में उन्होंने एक दोहा लिखा है जिसकी भाषा में हिन्दी का पूर्व रूप स्पष्ट हो उठा है –

"भल्ला हुआ जु मारिया बहिणी हमारा कन्तु।

लज्जेजन्तु वयंसिअहु जइ भग्गा घरू एन्तु। ।"

जैनाचार्यों में हिन्दी का सबसे पहला कवि स्वयंभू देव को माना जाता है इनका काल आठवीं शताब्दी है। ये छन्द-शास्त्र और व्याकरण के आचार्य थे इनके लिखे चार ग्रंथ मिलते हैं - 'पउम चरिउ' (जैन रामायण), 'रिहमेणि चरिउ' 'पंचम चरिउ', 'स्वयंभू छन्द'। इनके अतिरिक्त जैनाचार्यों में अन्य अनेक प्रसिद्ध विद्वान हुए हैं, जिनमें दसवीं सदी के आचार्य देवसेन, मयारहवीं सदी के महाकवि पुष्यदन्त, धनपाल, मुनि रामसिंह, श्री अभयदेव सूरि, चन्द्रमुनि, जिन वल्लभ सूरि. योगचन्द्रमुनि, हेमचन्द्र सूरी, शालिभद्र सूरि, सोमप्रभ सूरि, विनयचन्द्र सूरि. विजयभद्र आदि प्रसिद्ध हैं। इन्होंने अपनी साहित्यिक कृतियों द्वारा हिन्दी की उल्लेखनीय सेवा भी की है। इन्होंने अपभ्रंश भाषा में अनेक सुन्दर ग्रंथों का सृजन किया जिनमें जैन धर्म के सिद्धांतों का निरूपण हुआ था। तेरहवीं सदी में जैनाचार्य सोमप्रभु सूरि ने गद्य-पद्यमय संस्कृत-प्राकृत-काव्य और चौदहवीं सदी में आचार्य मेरुतुंग ने 'प्रबन्ध चिंतामणि' नामक एक संस्कृत ग्रंथ लिखा था। अपभ्रंश-काव्य में शारंगधर का नाम भी उल्लेखनीय है। इन्होंने 'हम्मीररासो' नामक एक वीरगाथा-काव्य की रचना की थी। इसमें कोई संदेह नहीं कि जैन साहित्य में भावों की व्यापकता के साथ-साथ शैली की उत्कृष्टता भी है और

प्रमकथाओं में भौतिक उंत्कर्ष का चित्रण करने के साथ ही नश्वरता की भावना को अंकित कर अलौकिक पक्ष या आध्यात्मिक पक्ष की ओर भी संकेत किया गया है। जैन-साहित्य में शान्त रस की ही प्रधानता की दृष्टि से भी जैन-साहित्य प्रशंसनीय माना जाता है और कुछ जैन आचार्यों की कतिपय पद्य' रचनाएँ भी मिलती हैं। इस प्रकार हिन्दी-साहित्य के आदिकाल में जैन-साहित्य का महत्वपूर्ण स्थान है। इस साहित्य का महत्व जैन धर्म के प्रतिपादन की दृष्टि से ही नहीं है वरन् यह भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है।

जैन ग्रंथों में सर्वप्रथम ग्रंथ देवसेन कृत 'स्रावकाचार' कहा जाता है। उनके कुछ अन्य ग्रंथ भी मिलते हैं। उनके शिष्य माइल्ल धवल ने 'गाथा' का प्रचार किया। प्रारम्भिक जैन-साहित्य में दोहा-चौपाई पद्धति पर 'चरित काव्य' या 'आख्यानक काव्य' का निर्माण हुआ। प्राकृत और अपभ्रंश साहित्यों से हिन्दी साहित्य ने विषय तथा शैली की दृष्टि से अनेक अंश ग्रहण किये हैं। जैन धर्म की दोहा-चपाई-पद्धति आगे चलकर सूफी कवियों तथा तुलसी आदि द्वारा अपनायी गयी। जैन धर्म के दो प्रधान सम्प्रदायों-दिगम्बर और श्वेताम्बर में से पुरानी हिन्दी में केवल दिगम्बर सम्प्रदाय सम्बन्धी रचनाएँ ही अधिक पायी जाती हैं। हो सकता है, श्वेताम्बर सम्प्रदाय सम्बन्धी रचनाएँ भी पुरानी हिन्दी में निर्मित हुई हों, किंतु अभी तक वे उपलब्ध नहीं हुई हैं। श्वेताम्बर सम्प्रदाय सम्बन्धी रचनाएँ गुजराती भाषा में लिखी गयी अधिक मिली हैं।

हेमचन्द्र गुजरात के सोलंकी राजा सिद्धराज जयसिंह और तत्पश्चात् सिद्धराज के भतीजे कुमारपाल के आश्रय में रहते थे। बारहवीं शताब्दी के लगभग मध्य में उन्होंने जैन धर्म स्वीकारा था। उन्होंने विविध प्रकार की कथाओं के द्वारा जैन धर्म का प्रचार किया। 'सिद्ध हैम व्याकरण' और 'कुमारपाल चरित' उनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। सोमप्रभ सूरि ने बारहवीं शताब्दी के लगभग अंत में 'कुमारपाल प्रतिबोध' नामक ग्रंथ की रचना की जिसमें हेमचन्द्र के उपदेशों का निरूपण है। वास्तव में जैन धर्म ने हिन्दी साहित्य के विकास में प्रमुख भाग लिया है। हिन्दी-साहित्य के आदिकाल में ही तीर्थंकरों की जीवनियों, सांसारिक वर्णनों, श्रावकों के चित्रण आदि के द्वारा उन्होंने अपने धर्म के सिद्धांतों का लोकप्रिय रूप में निरूपण

किया, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार ब्राह्मण धर्मानुयायियो ने पुराणों द्वारा और बौद्ध धर्मावलंबियों ने जातक कथाओं द्वारा यह कार्य किया था। यद्यपि उस समय कहीं-कहीं गद्य के दर्शन भी होते हैं, किंतु जैन-साहित्य प्रधानतः काव्यात्मक और व्याकरण के नियमों में आबद्ध है।

कवियों ने अनेक पौराणिक और ऐतिहासिक व्यक्तियों का चित्रण किया। किंतु जैन कवियों के संबंध में यह सदैव रमरण रखना चाहिए कि धार्मि सिद्धांतों का प्रतिपादन ही उनकी रचनाओं का प्रधान पक्ष है, न कि काव्य-सौंदर्य का प्रदर्शन। वास्तव में जैन कवि धर्मप्राण व्यक्ति थे। जैन-साहित्य के कुछ उदाहरण निम्नांकित हैं।

"पिय संगमि कउ निद्दड़ी ? पियहो परोक्खहौ केंव।

मइँ विन्निवि विन्नासिया, निद्द न एँव न तेंव। ।"

[प्रिय के संयोग में नींद कहाँ और प्रिय के परोक्ष में भी क्योंकर आवे। मैं तो दोनों प्रकार से विनष्ट हुई न इस प्रकार नींद न ही उस प्रकार। "

" जे महु दिण्णा दिअहड़ा दइएँ पवसंतेण।

ताण गणंतिए अंगुलिउँ जज्जरियाउ नहेण। ।"

-हेमचन्द्र

[रियतम ने जो दिन मुझे प्रवास जाते समय दिये थे, उन्हें नख से गिनते-गिनते मेरी ऊँगलियाँ जर्जरित हो गयी है। "]

" रावण जायउ जहि दिअहि दह मुह एक सरीरू।

चिंताविय तइयहि जणणि कवणु पियावऊँ खीरु। ।"

["जिस दिन दस मुँह और एक शरीर वाला रावण पैदा हुआ, उसी समय जननी को वह चिन्ता हुई कि दूध किसमें पिलाऊँ। "]

"पिय हउँ थक्किय सयलु दिणु तुइ विरहग्गि किलंत ।

थोड़ई जल जिम मच्छलिय तल्लोविल्ल करंत। ।"

-सोमप्रभ सूरि

["हे प्रियतम ! मैं सारे दिन तेरे विरह में उसी तरह तड़फड़ाती रही जिस प्रकार मछली थोड़े जल में तड़फड़ाती है। "]

प्रारंभ में काव्य-सृजन में संस्कृत शब्दों का प्रयोग नहीं होता था. किंतु कालांतर में संस्कृत शब्दों के प्रयोग में संकोच मिट गया। कवियों ने धामिक वृत्ति के अनुसार शांत रस का विशेष रूप से निरूपण किया और अनेक छंदों का प्रयोग भी उनकी रचनाओं ने बराबर मिलता है।

3.3.4. अपभ्रंश-साहित्य का प्रभाव

अपभ्रंश-साहित्य की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं –

(1) इस साहित्य में वर्ण्य विषय प्रमुखतः धार्मिक और दार्शनिक रहा। लौकिक विषयों पर भी दृष्टि पड़नी आरंभ हो गई।

(2) इन रचनाओं में साहित्यिकता का अभाव है।

(3) शांत रस की प्रधानता रही। कहीं-कहीं श्रृंगार की भी झलक मिलती है।

(4) दोहा छन् की प्रधानता रही। चौपाई, चरित्र रासक, चतुष्पदी, ढाल, कवित्त आदि छन्दों का भी प्रयोग किया गया है।

(5) इस काल का साहित्य भारतीय चिंतन-विधि के विकास में महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

वस्तुतः इस अपभ्रंश-साहित्य का हिन्दी-साहित्य के सभी कालों पर यथेष्ट प्रभाव पड़ा है। आदिकाल में निर्मित चारण व वीर गाथाएँ तो अपभ्रेंश के परवर्ती चारण काव्यों से ही प्रभावित हैं और कई समीक्षक तो इनका मूलरूप अपभ्रंश में ही लिखा गया मानते हैं। अपभ्रंश के लोक-गीतों व विरह काव्यों की परम्परा संदेशरासक, भविसयत्त कथा, जसहर चरिउ, प्रणयकुमार चरिउ और करकंड चरिउ सदृश काव्यों तथा जैन मुनियों, सिद्धों और नाथपंथी योगियों के गीतों में स्पष्ट दिखायी देती है। भक्तिकाल भी अपभ्रंश से प्रभावित है। कबीर आदि संत कवियों पर तो सिद्धों व नाथपंथी योगियों पर अत्यधिक प्रबाव पड़ा है। संतों की सांध्यभाषा, उलटबासियाँ, रहस्यमयी उक्तियाँ तथा रूपात्मक स्तुतियाँ सिद्ध-

साहित्य से ही प्रभावित हैं। सूर के दृष्टकूटों का मूल स्रोत भी सिद्धों की सांध्यभाषा में देखा जा सकता है। जैनों और सिद्धों द्वारा प्रयुक्त गीत-शैली को भक्तिकाल में विकास का समुचित अवसर मिला और सूरदास आदि कृष्णभक्ति शाखा के कवियों ने उसे विकसित कर उन्नति के शिखर पर पहुँचाया। जायसी और तुलसी द्वारा प्रयुक्त दोहा-चौपाई शैली का मूल स्रोत अपभ्रंश महाकाया व सिद्ध साहित्य ही है। अपभ्रंश साहित्य के चरित ग्रंथों की भाँति रीतिकालीन कवियों ने भी आश्रयदाताओं का यशोगान किया और रीतिकालीन श्रृंगारमूलक सूक्तियाँ अपभ्रंश के मुक्त काव्यों की श्रृंगार रस पूर्ण शक्तियों की याद दिलाती हैं।

यहाँ यह भी स्मरणीय है कि न केवल भावपक्ष की दृष्टि से अपितु कलापक्ष की दृष्टि से भी परवर्ती हिन्दी-साहित्य इस अपभ्रंश की रचनाओं से प्रभावित है और जैसा कि डॉ. नामवर सिंह का कहना है कि. "भावधारा के वि,य में अपभ्रंश से हिन्दी का जहाँ केवल ऐतिहासिक संबंध है, वहाँ काव्यरूपों और छंदों के क्षेत्र में उस पर अपभ्रंश की गहरी छाप है। रूप-विधान विषयवस्तु की अपेक्षा धीरे-धीरे बदलता है। इस विषय में रूढ़ियों का पालन अधिक दिखाई पड़ता है। यही कारण है कि हिन्दी के अपभ्रंश की काव्य संबंधी अनेक परिपाटियों का ज्यों का त्यों और कुछ को थोड़ा सुधार कर स्वीकार कर लिया। इस तरह हिन्दी ने अपभ्रंश की जीवित परंपरा की भाषा और साहित्य दोनों क्षेत्रों में ऐतिहासिक विकास किया। " इस प्रकार हीन्दी-साहित्य में अपभ्रंश-साहित्य का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है।

3.3.5. वीरगाथा - साहित्य

हिन्दी साहित्य के आदिकाल की साहित्यिक प्रवृत्तियों पर विचार करते समय समीक्षक इस निष्कर्य पर पहुँचते हैं कि इस काल में दो प्रकार के साहित्यिक प्रयत्न प्रमुख हैं- एक बौद्ध और नाथ सिद्धों तथा जैन मुनियों की उपदेशात्मक रचनाएँ और दूसरी श्रेणी में चारण कवियों के चरित-काव्य हैं, जिनमें राजस्तुति, युद्ध, विवाह आदि के वर्णन हैं। इन चरित-काव्यों को 'वीरगाथा' कहा जाता है और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इन वीरगाथाओं की प्रचुरता देखते हुए हिन्दी साहित्य के आरम्भिक काल को 'वीरगाथा काल' कहना उचित

समझा था। इस संबंध में डॉ. रामकुमार वर्मा का कथन है - "वीरगाथा काल का विषय प्रधान रूप से राजाओं का यशोगान था। उनका युद्ध-कौशल, उनकी धर्मवीरता और उनके ऐश्वर्य का वर्णन ओजस्वी और शक्तिशालिनी भाषा में किया जाता था। अपने नायक कती श्रेष्ठता प्रदर्शित करने के लिए कवि विपक्षी (हिन्दू अथवा मुसलमान) की हीनता का नग्न चित्र अंकित करता था। कथा का स्वरूप अधिकतर कल्पना से ही निर्मित हुआ करता था। यद्यपि ऐतिहासिक घटनाओं का विवरण भी उसमें प्राप्त होता है. पर उसका विस्तार और वर्णन कल्पना के सहारे ही किया जाता था। तिथि पर भी कोई विशेष ध्यान नहीं दिया जाता था। कथा में वर्णनात्मकता ही अधिक होती थी। वस्तुओं की सूची तथा सेना आदि का वर्णन आवश्यकता से अधिक हुआ करता था., यद्यपि इसका उद्देश्य एक नायक मात्र की शक्ति और उसकी वीरता की सूचना देना था। कहीं-कहीं ये वर्णन नीरस भी हो गये हैं। अतएव कवि का आदर्श अधिकतर अपने चरितनायक के गुण-वर्णन तक ही सीमित रहता था। "

वीरगाथाओं के सम्बन्ध में सर्वप्रथम उल्लेखनीय बात है कि प्रायः ये सभी रचनाएँ संदिग्ध ही हैं और इनकी प्रामाणिकता पर विचारकों ने संदेह भी प्रकट किया है। इस काल में रचित कही जानेवाली खुमान रासो, बीसलदेव रासो, पृथ्वीराज रासो तथा परमाल रासो आदि वीरगाथाओं में भाषा-शैली तथा विषय-सामग्री की दृष्टि से इतना अधिक परिवर्द्धन हुआ है कि निश्चयात्मक रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि ये सम्बन्धित आश्रयदाताओं के काल में ही लिखी गयी होंगी। ऐतिहासिकता और प्रामाणिकता की दृष्टि से जयानक कृत 'पृथ्वीराज विजय' अवश्य महत्वपूर्ण है तथा उसका साहित्यिक महत्व भी कम नहीं है। यद्यपि इन वीरगाथाओं में इतिहास पद्धति चरित नायकों को आलम्बन मानकर उन्हीं का वर्णन किया गया है, परन्तु इनमें से अधिकांश कृतियों में ऐतियों में ऐतिहासिकता का अभाव है और न केवल संवत् व तिथियों इतिहास सम्मत नहीं है बल्कि वर्णन भी इतिहारा की कसौटी पर खरे नहीं उतरते। इतिहास की अपेक्षा कल्पना का ही बाहुल्य दीख पड़ता है और अतिरंजित वर्णनों से भी ऐतिहासिकता को क्षति पहुँची है। इन चारण कवियों ने अपने आश्रयदाताओं को राम, कृष्ण, नल, युधिष्ठिर से श्रेष्ठ मानकर अत्युक्तिपूर्ण वर्णन किया है।

इसी प्रकार 'पृथ्वीराज रासो' में पृथ्वीराज को उन राजाओं का भी विजेता कहा गया है, जो उससे कई शताब्दियों पूर्व व पश्चात् विद्यमान थे।

इन वीरगाथाओं में कवियों का संकुचित दृष्टिकोण भी दीख पड़ता है। ये कृतियाँ संकीर्ण राष्ट्रीयता से ओतप्रोत हैं और कवियों ने अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा तो मुक्त-कंठ से की है और अतिरंजित वर्णन भी प्रस्तुत किए हैं। परंतु उस समय राष्ट्र शब्द से संपूर्ण भारत का अभिप्राय न ग्रहण कर अपने-अपने प्रदेश व राज्य को ही राष्ट्र समझा जाता था और कवियों का ध्यान केवल अपने आश्रयदाता तक ही सीमित रहा। जहाँ एक ओर पृथ्वीराज की प्रशंसा की गयी, वहाँ जयचन्द्र की प्रशंसा करनेवाले कवि भी उस समय विद्यमान थे और भट्ट केदार की 'जयचन्द्र प्रकाश' तथा मधुकर की 'जचमयंक जसचन्द्रिका' इस कथन की पुष्टि करती है। इतना ही नही इन काव्यों में साधारण जन-जीवन के घात-प्रतिघात का अभाव है और इन राजदरबारी चारण कवियों ने सामंती जीवन या राजसी वैभव को ही विशद रू से अंकित किया है। वीरगाथाओं में अनेक गुण भी हैं। वीर तथा श्रुंगार रस का इतना सुंदर सम्मिश्रण भी अन्यत्र नहीं मिलता। इसमें कोई संदेह नहीं कि इन वीरगाथाओं में वीररस का इतना सुंदर परिपाक हुआ है कि कदाचित् ही परवर्ती हिन्दी-साहित्य में वीररस का इतना पुष्ट रूप मिल सके। वीररस के अतिरिक्त श्रुंगार रस की भी इन वीरगाथाओं में प्रधानता है और 'बीसलदेव रासो' तो श्रुंगार प्रधान ही है। वीरगाथा-कवि श्रुंगार रस पूर्ण सरस उक्तियाँ लिखने में सफल हुए हैं। उदाहरणार्थ.

वीररगाथाएँ मुक्तक और प्रबन्ध दोनों रूपों में मिलती हैं तथा छन्दों की जैसी विविधता इन कृतियों में दीख पड़ती है, वैसी पूर्ववर्ती साहित्य में नहीं दिखायी देती। दोहा, त्रोटक, तोमर, गाथा-गाहा, पद्धरि, आर्या, सट्टक, रोला, उल्लाला और कुम्डलियाँ आदि छंदों का प्रयोग कलात्मक व स्वाभाविक ही हुआ है तथा छंदों के प्रयोग में कहीं भी अस्वाभाविकता नहीं है। "

इन वीरगाथा काव्यों की अन्य महत्वपूर्ण विशेषता 'डिंगल' भाषा अर्थात् तत्कालीन साहित्यिक राजस्थानी भाषा का प्रयोग भी है और वीर रस पूर्ण भावनाओं को अभिव्यक्त

करने के लिए यह भाषा बहुत उपयुक्त है। कहीं-कहीं जन-समुदाय के संपर्क में आने से भाषा परिवर्तित भी हो गई है और ये ग्रंथ भाषा के वास्तविक स्वरूप रहित व परिवर्तित भी जान पड़ते हैं। शब्द-भंडार बहुत विस्तृत है और एक ओर तो इनमें संस्कृत के तत्सम शब्द हैं तथा दूसरी ओर अरबी-फारसी के शब्दों का प्रयोग भी हुआ है। पर तद्भव शब्दों की इस भाषा में बहुलता है। इस प्रकार भाषा-विज्ञान, साहित्यिक व ऐतिहासिक दृष्टि से भी इन वीरगाथाओं का महत्व है और इन ग्रंथों के द्वारा राजस्थान के प्राचीन इतिहास की सजीव झाँकी मिलती है। अपब्रंश के अंतिम काल के बाद काव्य-परंपरा के आधार पर हिंदी दो शाखाओं में विभक्त हो गयी डिंगल और पिंगल। राजस्थान में नागर अपभ्रंश से प्रभावित हिन्दी के साहित्य रूप का नाम डिंगल है, जो अनियमित और पंगल से प्राचीन मानी जाती है। डिंगल शब्द की व्युत्पत्ति अनिश्चित है। कुछ विद्वन उसे 'डीगागल' (ऊँची बोली में बात, क्यों कि चारण अपनी कविता उच्च स्वर में पढ़ते थे) से मानते हैं और कुछ लोग उसे बाद को पिंगल नाम के अनुकरण पर गढ़ा गया मानते हैं। पिंगल मध्य-देश की सांहित्यिक ब्रजभाषा का नाम था और जिसमें शास्त्रीय नियमों का पालन डिंगल की अपेक्षा अधिक माना जाता था। पिंगल का संबंध कुछ विद्वानों ने 'पाँगला' लूला या पंगु से माना है, क्यों कि ब्रजभाषा मंद गति से पड़ी जाती है और कुछ विद्वानों ने छंद-शास्त्र के प्रणेता पिंगल मुनि से माना है। आदिकाल का लौकिक साहित्य प्रायः डिंगल में मिलता है। यही वीरगाथा नाम से पुकारा जाता है।

'मिश्रबन्धु - विनोद' के प्रारंभ में पुंड या पुष्य, भाट कवि, कालिजर के राजा, नन्द कवि, साद के पुत्र समऊद कुतुबअली, सांईदान चारण और अकराम फैज नामक सात कवियों और इनकी रचनाओं का उल्लेख हुआ है। मिश्रबन्धुओं ने उनके संबंध में थोड़े विवरण भी दिए हैं। उनका समय आठवीं शताब्दी से लेकर बारहवीं शताब्दी के प्रारंभ तक माना गया है, अर्थात् उनका समय प्रसिद्ध कवि चन्द बरदाई से पूर्व माना गया है। चन्द का समय बारहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध स्वीकार किया जाता है। इन सात कवियों के तिरिक्त भुवाल और मोहनलाल द्विज के नाम उसी समय के लगभग रखे जाते हैं। किंतु इन सभी कवियों और उनकी रचनाओं के संबंध में प्रामाणिक रूप से कुछ पता नहीं चल सका। कवियों के संबंध में यदि कुछ ज्ञात हुआ है तो रचनाएँ उपलब्ध नहीं हैं। यदि रचनाएँ उपलब्ध हैं तो वे प्रामाणिक

नहीं हैं। इसी प्रकार चन्द से पूर्व रावल समरसिंह और महाराज पृथ्वीराज के दानपत्रों के रूप में राजस्थानी गद्य के जो उदाहरण उपलब्ध हैं, उनकी प्रामाणिकता में भी संदेह किया जाता है।

3.3.6. वीरगाथा-साहित्य की विशेषताएँ

वास्तव में हिन्दी की वीर-परम्परा का उत्तरोत्तर विकास होता रहा है। आदिकाल की वीर-भावना अत्यंत संकुचित और संकीर्ण थी। उसमें वीर रस के उदात्त रूप के दर्शन नहीं होते। कविगण प्रायः अपने आश्रयदाताओं की उचित अनुचित प्रशंसा करता ही अपना कर्तव्य मानते थे। उन्हें देश या राष्ट्र के व्यापक हित का ध्यान नहीं था। मध्ययुग में भूषण और लाल की भावना अधिक व्यापक थी। उन्होंने जाति का प्रतिनिधित्व भी किया। तत्पश्चात् आधुनिक समय में उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से वीर रस का केवल देश के हित की भावना से प्रेरित होकर वर्णन किया गया। बीसवीं शताब्दी में शारीरिक दृष्टि से ही वीर का नहीं, वरन् आद्यात्मिक दृष्टि से वीर का वर्णन भी वीर रस के अंतर्गत किया गया है और धर्मवीर, दानवीर, सत्यवीर आदि को भी कवियों ने अपना विषय बनाया है। डॉ.एल.पी.टेसीटरी ने अनेक ऐसे गद्य-पद्य मिश्रित डिंगल ग्रंथों का पता लगाया था, जो आदिकाल की परम्परा को आगे बढ़ाते हैं। आदिकाल में वीरगीत और प्रबन्ध काव्य-दोनों प्रकार के ग्रंथ मिलते हैं। वीरगाथा कव्य की निम्नलिखित विशेषताएँ प्राप्त हैं –

1. इन काव्यों में आश्रयदाताओं का यशोगान किया गया है।
2. इनकी भाषा डिंगल थी। भाषा का रूप बड़ा ही अव्यवस्थित, मिश्रित एवं अनिश्चित रहा।
3. इस साहित्य में वीररस का प्राधान्य रहा। यत्र-तत्र श्रृंगार के दोनों पक्षों-संयोग और वियोग-का चित्रण मिलता है।
4. प्रबन्ध और वीरगीतों के रूप में रचना हुई। डिंगल भाषा के ही छन्द प्रयुक्त हुए। इनमें से दूहा, पाघड़ी, कवित आदि प्रधान छंद थे।
5. इस काल की संपूर्ण रचनाएँ संदिग्ध हैं।

3.3.7 फुटकल रचनाएँ

वीर रसात्मक काव्यों में साहित्यिक प्राचीन भाषा का प्रयोग होता था। उसे उस समय के जनसाधारण की भाषा या बोलचाल की भाषा नहीं मान सकते। इस काल में केवल अमीर खुसरो ही एक ऐसे कवि थे, जिनकी भाषा बोलचाल की भाषा है। कुछ लोग विद्यापति की भाषा को भी बोलचाल की भाषा मानते हैं, परंतु उनकी 'पदावली' में मिथिला की शुद्ध बोलचाल की भाषा का प्रयोग न होकर साहित्यिक भाषा का ही प्रयोग हुआ है। विद्यापति वीरगाथा की परम्परा के कवि न होकर श्रृंगार और भक्ति परंपरा के कवि हैं। अतः खुसरो और विद्यापति का फुटकल कवियों में वर्णन करना अधिक संगत प्रतीत होता है। अमीर खुसरो मानसिक विलास में व्यस्त कवि हैं और विद्यापति श्रृंगार से परिपूर्ण रचनाओं के प्रणेता हैं। काल क्रम के हिसाब से विद्यापति की गणना आदिकाल के अंतर्गत की जाती है। परन्तु रचना के आधार पर इन्हें भक्ति और रीतिकालीन कवियों की श्रेणी में रखा जा सकता है। साहित्य-परम्परा की दृष्टि से देखने पर यह स्ष्ट विदित होता है कि विद्यापति के उत्तरकालीन हिन्दी कवियों ने विद्यापति की साहित्य काव्य-परम्परा को ही अपनाया, उसे आगे बढ़ाया और उसकी अभिवृद्धि की। वर्ण्य-विषय एवं भाव की दृष्टि से विद्यापति के परवर्ती हिन्दी कवि उनके ऋणी हैं। विद्यापति की काव्य कृतियों में तत्कालीन समाज सजीव हो उठा है और वे जन कवि के रूप में सामने आते हैं। अमीर खुसरो का भी हिन्दी साहित्य के इतिहास में विशेष महत्व है। उनकी रचनाओं में उक्ति-वैचित्र्य को प्रधानता मिलती है। उन्होंने सरल, स्वाभाविक एवं प्रवाहपूर्ण भाषा का प्रयोग किया। आदिकाल के लगभग अंत में जनसाधारण में प्रचालित लोगों की बोलियों के उदाहरण अमीर खुसरो और विद्यपति की रचनाओं में प्राप्त होते हैं। भाषा की परम्परा इन दो कवियों ने चलायी, जिसका भक्तिकालीन कवियों ने भरपूर लाभ उठाया और उनकी रचनाओं के संबंध में कोई संदिग्धता भी नहीं है।

3.3.8 गद्य-साहित्य

आदिकालीन साहित्य के इस गद्य-पद्य की ओर अनेक विद्वानों का ध्यान गया है। संवत् 1300-1400 के आस-पास दक्खिनी हिन्दी में गद्य की कुछ कृतियाँ लिखी गईं। अमीर

खुसरो ने हिन्दी का प्रयोग चौदहवीं शताब्दी के आरम्भ में फारसी के साथ मिलाकर किया और खड़ीबोली में पहेलियाँ और मुकरिय लिखीं। खालकवीड़ी नाम से ही फारसी-हिन्दी का एक कोश भी लिखा। आस-पास दिल्ली की खड़ीबोली के साथ फारसी मिली भाषा को यहाँ की फौज के लोगों ने, फकीरों और संतों ने अपनाया। तुगलक काल में यह भाषा दक्षिण में भी पहुँच गई। वहाँ इसने उर्दू-फारसी मिश्रित हिन्दी का रूप ग्रहण किया। इसे देहलवी, मुसलमानी, शुंगाली आदि नामों के साथ दक्खिनी हिंदी कहा गया। इसे दक्षिणी, दक्कनी, दक्खिनी आदि नामों से पुकारा गया। इस भाषा के अनेक कवि गद्य-लेखक भी थे। ख्वाजा बन्दानवाज कवि और लेखक दोनों रूपों में प्रसिद्ध हुए। आदिकालीन गद्य-साहित्य तीन चरणों में विकसित हुआ-मध्यदेशीय अवहट्ठ (देश भाषा) की कृतियाँ, पूर्वी अवहट्ठ की कृतियाँ, पश्चिमी अवहट्ठ की कृतियाँ।

मध्यदेशीय अवहट्ठ (देश-भाषा) की कृतियाँ : 'राउरबेल' आदिकालीन गद्य की पहली रचना है। इसके रचयिता रोडा नामक कवि हैं। इसमें उस समय के गद्य का स्वरूप निम्न प्रकार मिलता है –

" ज पुणु मालवी उवेसु ही आवंतु
काम्ब देउ जाउं आपणाइ हथिआर हू भूलइ।
इहां अम्हार दुभगी खोंप करिउ वाझइ। "

'उक्ति व्यक्ति प्रकारण ' काशी के गाहड़ वंश के राजा गोविन्द चन्द के सभा पंडित दामोदर पंडित की कृति है। यह व्याकारण की शिक्षा के लिए लिखित रचना है। व्याकरण-शिक्षा के साथ भाषा-प्रयोग की शिक्षा भी इसमें मिलती है। इसमें आचार्य, गुरू, राजा आदि को पत्र लिखने की विधि बताई गई है। इसका गद्य बहुत स्पष्ट है, जो आदिकाल के गद्य के विकास के स्वरूप का परिचय देता है।

उदा : "अखंड हाल सावितो सो जाति ईमान वह है सावितो आती और जाती है।" (शाहयारे से)

पूर्वी अवहट्ठ की कृतियाँ : 'वर्णरत्नाकर' के रचनाकार ज्योतिरीश्वर ठाकुर हैं। इसमें सात कल्लोल हैं। आठवाँ कल्लोल अधूरा है। इसकी समास बहुला शैली है। इसमें संस्कृत शब्दों की प्रचुरता है। इसमें नाथों और सिद्धों का प्रभाव भी मिलता है।

उदा : "मेघपूरित आकाश भस गेल अस ।

विद्युल्लताक तरंग तें पंच दिशि ज्ञान होवे अध। "

"कीर्तिलता और कीर्तिपताका" के रचयिता विद्यापति हैं। ये रचनाएँ पद्य में हैं, किंतु कहीं-कहीं गद्य का भी प्रयोग किया गया है। ये दोनों रचनाएँ विद्यापति के गद्य के नमूने प्रस्तुत करती हैं। उनका गद्य संस्कृत शब्दों से युक्त है। **उदा : "लोअ धनिअ अनस परिवार राज्य भाग परिहरिअ युपर तुरंग परिजन विमुक्तिअ, प्राचीन पाजे पन्नविअ जन्मभूति को मोह छोडिड्अ। "**

पश्चिमी अवहट्ठ की कृतियाँ : 'आराधना' एक जैन धर्म संबंधी रचना है। इसवे रचनाकार का नाम अज्ञात है। इसमें धर्मोपदेश हैं। प्राचीन गुर्जर काव्य-संग्रह मे इसे संकलित किया गया है। **उदा : "सम्यकत्व प्रतिपति करहु, अरिहन्तु देवता सुसाधु गुरु जिन पुश्पीन धर्म्म साम्यकत्व दंडकु ऊचरहु सागभू प्रत्याखानु उचरहु चउहु सरकिबर परसरहुं। "**

'अतिचार' के रचयिता का नाम ज्ञात नहीं है। डॉ. दयाल के संग्रह में यह संकलित है। इसमें अनेक प्रकार के अतिचारों का वर्णन है।

'तत्व विचार' कृति में बारह व्रत, नौ पदार्थ, देव, गुरु, धर्म त्रिगाष्ठिशालाका सल आदि का वर्णन है।

'धनपाल कथा' में धनपाल की जीवन-कथा है। तिलकमंजरी के रचयिता धनपाल की जीवन-कथा का एक संकेत है। तिलकमंजरी के अग्नि में जल जाने के बाद पुतः लिखने की घटना है।

इसके बाद भी गद्य-रचनाओं का लेखन होता रहा। 'कल्याण मंदिर स्वोन को अनचूरी' (सं 1440), 'मुग्धसबोध को मौलिक सं (1451), 'नमस्कार बला बरबोध' (सं 1500),

'उपदेश माधा बालवबोध' (सं 1567) आदि अनेक रचनाएँ मिलती हैं। इन रचनाओं की ऐतिहासिक उपयोगिता है। आदिकाल के गद्य का यह विकास आगे के गद्य के विकास की आधारशिला बना।

3.3.9. आदिकालीन गद्य की विशेषताएँ

आदिकालीन गद्य-साहित्य की प्रवृत्तिगत विशेषताएँ निम्नलिखित हैं –

1. इस युग की गद्य-कृतियों में धर्मोपदेश की व्यापक प्रवृत्ति मिलती है।
2. इन गद्य-कृतियों में बालकों अथवा कम ज्ञानी व्यक्तियों को धर्म वं व्याकरण की शिक्षा देने का प्रयास किया गया है।
3. इस गद्य की यह प्रमुख विशेषता है कि इसमें कथाओं के माध्यम से उपदेश दिया गया है। जिनदत्त कथा, बाहुबली कथा आदि से यह तथ्य स्पष्ट होता है।
4. इस गद्य-साहित्य में अवहट्ठ का प्रयोग हुआ है। इस युग की अनेक रचनाएँ प्राकृताभास अथवा अपभ्रंश की रचनाएँ हैं। रचनाकारों ने निर्विभक्तिक पदों के प्रयोग में रुचि दिखाई है। संस्कृत के तत्सम शब्दों की प्रचुरता है। शब्द-चयन को देखकर विद्वानों ने ऐसे गद्य को पद्यानुरागी गद्य कहा है।

आदिकालीन गद्य का आधुनिक गद्य के विकास में बहुत योगदान है। वह आधुनिक प्रौढ़ एवं विकसित गद्य की दृढ़ पृष्ठभूमि प्रस्तुत करता है। शैली-शिल्प की दृष्टि से आदिकालीन गद्य का बहुत महत्व है। भाषा का बदलाव बौद्ध सिद्धों के अश्वेत पारिभाषिक तेवर, चारणों के कथ्य और शिल्प की उच्चता, भाषा की सामासिकता, शब्दों के साथ परसमों का प्रयोग आदि आदिकालीन गद्य की प्रमुख उपलब्धियों हैं।

3.4. समाहार

हिन्दी-साहित्य का आरम्भिक काल अत्यन्त विवादग्रस्त होते हुए भी काफी महत्वपूर्ण है। भाषा-विकास की दृष्टि से इसका महत्व अनन्य है। इस काल में हम हिन्दी को आगे बढ़ता हुआ देखते हैं। हिन्दी-साहित्य के आरम्भिक काल में रासो ग्रंथों की ही प्रधानता मिलती है। यह प्रधानता देखकर यह विश्वास करना पड़ता है कि हिन्दी के पूर्ववर्ती साहित्य या साहित्यों

में यह परस्परा अवश्य विकसित रही होगी। आरम्भिक काल में हमें हिन्दी-भाषा की जितनी प्रामाणिक या अर्द्धप्रामाणिक रचनाएँ मिलती हैं, उन पर संस्कृत-साहित्य का सीधा प्रभाव दिखाई नहीं देता। इस काल के रासो-ग्रंथ अपभ्रंश की रासो-ग्रंथ-परम्परा से प्रभावित हैं। खुसरो की पहेलियाँ या मुकरियाँ विशुद्ध लोक-परम्परा की उपज हैं। विद्यापति की पदावली में लोकगीतों का अनुसरण गोचर होता है। सिद्धों तथा नाथों के साहित्यिक क्षेत्र का प्रभाव या विकसित रूप हमें आगे चलकर संत-काव्य के रूप में मिलता है। दक्खिनी हिन्दी का इतिहास इस बात का प्रमाण है कि चौदहवीं-पन्द्रहवीं सदी में खड़ीबोली हिन्दी उत्तर भारत की आम बोलचाल और भिन्न भाषा-भाषियों में परस्पर संपर्क स्थापित करनेवी प्रधान भाषा थी। आज खड़बोली हिन्दी भारत की राष्ट्भाषा मानी जाती है।

हिन्दी-साहित्य का आदिकाल भाषा का संक्रान्ति काल होता है। अपभ्रंश में हिन्दी अत्यंत अव्यवस्थित रूप में पनपती रही। व्याकरण और पिंगल की शास्त्रीय परम्परा में वह अपने बन्धन शिथिल कर चुकी थी। भाषा अनुशासनहीन हो अपने स्वाभाविक रूप में जन-वाणी के रूप में विकसित हो रही थी। हिन्दी के आदिकाल के आरंभ तथा अन्त पर दृष्टि डालने से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी सरलता, कोमलता और मधुरता की ओर अग्रसर होती रही और शास्त्रीय बन्धनों के आग्रह समाप्त होते गए। यह काल पद्य-प्रधान काल ही कहा जाएगा यद्यपि इसी काल को हिन्दी-गद्य का बीजवपन काल भी कहा जाता है। हिन्दी-साहित्य के अपभ्रंश काल को आदिकाल के साहित्य की पूर्व पीठिका मानना उचित है।

3.5 शब्दकोश

- **सिध्द-नाथ साहित्य-** भगवान शिव के उपासक नाथों के द्वारा जो साहित्य रचा गया, वही नाथ साहित्य कहलाता है। राहुल संकृत्यायन ने नाथपंथ को सिद्धों की परंपरा का ही विकसित रूप माना है। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने नाथपन्थ या नाथ सम्प्रदाय को 'सिद्ध मत', 'सिद्ध मार्ग', 'योग मार्ग', 'योग संप्रदाय', 'अवधूत मत' एवं 'अवधूत संप्रदाय' के नाम से पुकारा है।

- **अपभ्रंश साहित्य- अपभ्रंश**, आधुनिक भाषाओं के उदय से पहले उत्तर भारत में बोलचाल और **साहित्य** रचना की सबसे जीवन्त और प्रमुख भाषा (समय लगभग छठी से १२वीं शताब्दी)। भाषावैज्ञानिक दृष्टि से **अपभ्रंश** भारतीय आर्यभाषा के मध्यकाल की अंतिम अवस्था है जो प्राकृत और आधुनिक भाषाओं के बीच की स्थिति है।

  अपभ्रंश साहित्य की प्राप्त रचनाओं का अधिकांश जैन काव्य है अर्थात् रचनाकार जैन थे और प्रबंध तथा मुक्तक सभी काव्यों की वस्तु जैन दर्शन तथा पुराणों से प्रेरित है। सबसे प्राचीन और श्रेष्ठ कवि स्वयंभू (नवीं शती) हैं जिन्होंने राम की कथा को लेकर 'पउम-चरिउ' तथा 'महाभारत' की रचना की है। दूसरे महाकवि पुष्पदंत (दसवीं शती) हैं जिन्होंने जैन परंपरा के त्रिषष्ठि शलाकापुरुषों का चरित 'महापुराण' नामक विशाल काव्य में चित्रित किया है। इसमें राम और कृष्ण की भी कथा सम्मिलित है। इसके अतिरिक्त पुष्पदंत ने 'णायकुमारचरिउ' और 'जसहरचरिउ' जैसे छोटे-छोटे दो चरितकाव्यों की भी रचना की है। तीसरे लोकप्रिय कवि धनपाल (दसवीं शती) हैं जिनकी 'भविस्सयत्त कहा' श्रुतपंचमी के अवसर पर कही जानेवाली लोकप्रचलित प्राचीन कथा है। कनकामर मुनि (११वीं शती) का 'करकंडुचरिउ' भी उल्लेखनीय चरितकाव्य है।

- **जैन साहित्य**- अपभ्रंश की जैन-साहित्य परम्परा हिंदी में भी विकसित हुई है। जैन कवियो ने जैन धर्म के प्रचार-प्रसार हेतु जो साहित्य लिखा वह जैन साहित्य कहलाता है। बड़े-बड़े प्रबंधकाव्यों के उपरान्त लघु खंड-काव्य तथा मुक्तक रचनाएं भी जैन-साहित्य के अंतर्गत आती हैं। स्वयंभू का पउम-चरिउ वास्तव में राम-कथा ही है। स्वयंभू, पुष्पदन्त, धनपाल आदि उस समय के प्रख्यात कवि हैं। गुजरात के प्रसिद्ध

जैनाचार्य हेमचंद्र भी लगभग इसी समय के हैं। जैनों का संबंध राजस्थान तथा गुजरात से विशेष रहा है, इसीलिए अनेक जैन कवियों की भाषा प्राचीन राजस्थानी रही है, जिससे अर्वाचीन राजस्थानी एवं गुजराती का विकास हुआ है। सूरियों के लिखे राम-ग्रंथ भी इसी भाषा में उपलब्ध हैं।

- **चारण साहित्य**- इसके अंतर्गत चारण के अलावा ब्रह्मभट्ट और अन्य बन्दीजन कवि भी आते हैं। सौराष्ट्र, गुजरात और पश्चिमी राजस्थान में चारणों का, तथा ब्रज-प्रदेश, दिल्ली तथा पूर्वी राजस्थान में भट्टों का प्राधान्य रहा था। चारणों की भाषा साधारणतः राजस्थानी रही है और भट्टों की ब्रज। इन भाषाओं को डिंगल और पिंगल नाम भी मिले हैं। ये कवि प्रायः राजाओं के दरबारों में रहकर उनकी प्रशस्ति किया करते थे। अपने आश्रयदाता राजाओं की अतिरंजित प्रशंसा करते थे। श्रृंगार और वीर उनके मुख्य रस थे। इस समय की प्रख्यात रचनाओं में चंदबरदाई कृत पृथ्वीराज रासो, दलपति कृत खुमाण-रासो, नरपति-नाल्ह कृत बीसलदेव रासो, जगनिक कृत आल्ह खंड आदि मुख्य हैं। इनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण पृथ्वीराज रासो है। इन सब ग्रंथों के बारे में आज यह सिद्ध हुआ है कि उनके कई अंश क्षेपक हैं।

आश्रयदाताओं की अतिरंजित प्रशंसाएं, युद्धों का सुन्दर वर्णन, श्रृंगार-मिश्रित वीररस का आलेखन वगैरह इस साहित्य की प्रमुख विशेषताएं हैं। इस्लाम का भारत में प्रवेश हो चुका था। देशी रजवाड़े परस्पर कलह में व्यस्त थे। सब एक साथ मिलकर मुसलमानों के साथ लड़ने के लिए तैयार नहीं थे। परिणाम यह हुआ कि अलग-अलग सबको हराकर मुसलमान यहीं स्थिर हो गए। दिल्ली की गद्दी उन्होंने प्राप्त कर ली और क्रमशः उनके राज्य का विस्तार बढ़ने लगा। तत्कालीन कविता पर इस स्थिति का प्रभाव देखा जा सकता है।

- **प्रकीर्णक साहित्य**- खड़ी बोली के आदि-कवि अमीर खुसरो इसी समय हुए है। खुसरो की पहेलियां और मुकरियां प्रख्यात हैं। मैथिल-कोकिल विद्यापति भी इसी समय के अंतर्गत हुए हैं। विद्यापति के मधुर पदों के कारण इन्हें 'अभिनव जयदेव' भी कहा जाता है। मैथिली और अवहट्ट में भी इनकी रचनाएं मिलती हैं। इनकी पदावली का मुख्य रस श्रृंगार माना गया है। अब्दुल रहमान कृत 'संदेश रासक' भी इसी समय की एक सुंदर रचना है। इस छोटे से प्रेम-संदेश-काव्य की भाषा अपभ्रंश से अत्यधिक प्रभावित होने से कुछ विद्वान इसको हिंदी की रचना न मानकर अपभ्रंश की रचना मानते हैं।

3.6 प्रगति की जाँच

1. भगवान शिव के उपासक नाथों के द्वारा लिखित साहित्य_____कहलाता है।

   (अ) नाथ साहित्य

   (आ) सिद्ध

   (इ) कुमार

   (ई) शिव

2. अपभ्रंश साहित्य की प्राप्त रचनाओं का अधिकांश_____ माना जाता है।

   (अ) कूट काव्य

   (आ) चारण काव्य

   (इ) जैन काव्य

   (ई) युद्ध काव्य

3. स्वयंभू का _____वास्तव में राम-कथा ही है

   (अ) रामकथा

   (आ) पउम-चरिउ

(इ) महाभारत

(ई) कुमारगीत

4. _____अपने आश्रयदाता राजाओं की अतिरंजित प्रशंसा करते थे।

(अ) रीति कवि

(आ) अन्य कवि

(इ) आधुनिक कवि

(ई) चारण कवि

5. विद्यापति के मधुर पदों के कारण इन्हें _____ भी कहा जाता है।

(अ) अभिनव जयदेव

(आ) सम्राट

(इ) पंडित

(ई) सूरज

1.7 बोध प्रश्न

1. हिंदी साहित्य के आदिकालीन प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालिए।
2. हिंदी साहित्य के आदिकालीन प्रवृत्तियों पर प्रकाश हुए, जैन साहित्य का योगदान स्पष्ट कीजिए।
3. हिंदी साहित्य के आदिकालीन प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालते हुए, अपभ्रंश साहित्य का औचित्य समझाइए।
4. आदिकाल के तत्कालीन प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालिए।

3.8 सहायक ग्रंथ

1. हिंदी साहित्य का इतिहास- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल।
2. हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास- डॉ.रामकुमार वर्मा।
3. हिंदी साहित्य का उद्भव और विकास- आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी।

4. हिंदी साहित्य का इतिहास- डॉ.नगेन्द्र।

5. हिंदी साहित्य युग और प्रवृत्तियाँ- डॉ.शिवकुमार शर्मा।

*****

इकाई-04

आदिकाल के प्रमुख कवि और काव्य

इकाई की रूपरेखा

4.0. उद्देश्य

4.1. प्रस्तावना

4.2. प्रमुख कवि और उनके काव्य

4.2.1. दलपति विजय

4.2.2. नरपति नल्ह

4.2.3. नल्हसिंह भट्ट

4.2.4. पुष्य

4.2.5. भुवाल

4.2.6. मोहनलाल द्विज

4.2.7. श्रीधर

4.2.8. भट्ट केदार, मधुकर कवि

4.2.9. जगनिक

4.2.10. शारंगघर

4.2.11. चन्दबरदाई

4.2.12. अमीर खुसरो

4.2.13. विद्यापति

4.2.14. नामदेव

4.2.15. गोरखनाथ

4.3. समाहार

4.4. शब्दकोश

4.5. प्रगति की जाँच

4.6. बोध प्रश्न

4.7. सहायक ग्रंथ

4. 0. उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अंतर्गत आप हिन्दी-साहित्य के आदिकाल के कवि तथा उनेक काव्यों से संबंधित संपूर्ण जानकारी प्राप्त कर सकेंगे। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप—

1. तत्कालीन विभिन्न काव्यों से अवगत होंगे।
2. रचयिताओं की महत्ता को समझ पायेंगे।
3. उन ग्रंथों का जो परवर्ती साहित्य पर प्रभाव रहा है, उसकी जानकारी प्राप्त करेंगे।
4. वीरगाथात्मक काव्य संबंधी ज्ञान प्राप्त करेंगे।
5. आदिकाल की प्राप्य सामग्री अर्थात् वीरगाथात्मक काव्यों के अतिरिक्त खुसरो, विद्यापति, नामदेव तथा गोरखनाथ की कृतियों की जानकारी प्राप्त करेंगे।

4.1. प्रस्तावना

हिन्दी-कविता का जन्म ही युद्धों की गर्जना, तलवारों की झनझनाहट और युद्धभूमि में सिसकते हुए सैनिकों की कराहटों के बीच में हुआ। इसलिए इस काल का साहित्य युद्ध-साहित्य होना स्वाभाविक ही है। इस काल के कवियों ने अपनी ओजस्विनी तथा प्रभावपूर्ण वाणी में साहित्य की रचना की । इस काल में अनेक कवियों ने वीर रस की रचनाएँ की। इस समय दो प्रकार के काव्यों की रचना हुई-(1) मुक्तक गीत (2) प्रबन्ध काव्य। वीरगीतों की श्रेणी में 'बीसलदेव रासो', 'आल्हा खंड' आदि ग्रंथ हैं। यद्यपि मूल रूप से ये दोनों ही प्रबन्ध कावय् हैं, परन्तु इसमें गीत-काव्य और प्रबन्ध-काव्य दोनों की विशेषताओं की प्रधानता रही है। प्रबन्ध काव्यों में 'खुमान रासे', 'पृथ्वीराज रासो', 'जयचन्द्र प्रकाश', 'जयमयंक जस

चन्द्रिका' आदि ग्रंथों की गणना की जाती है। विद्वानों का अनुमान है कि उस काल में वीर गीत काफी संख्या में लिखे गये थे, परन्तु वे नष्ट हो चुके हैं।

भाषा की दृष्टि से आदिकाल में चार भाषाओं की रचनाएँ मिलती है। अपभ्रंश, डिंगल, मैथिली और खड़ीबोली। सिद्धों, जैन आचार्यों, योगियों योगियों आदि के ग्रंथों की भाषा अपभ्रंश है। नाथ-पंथियों की भाषा में सजस्थानी, पंजाबी, अपभ्रंश तथा खड़ीबोली का मिश्रण है। विद्यापति की 'कीर्तिलता' और कीर्तिपताका' नामक पुस्तकें अपभ्रंश में लिखी गई हैं और उनहोंने अपनी 'पदावली' की रचना मैथिली भाषा में की थी जो हिन्दी की विभाषा मानी जाती है। रासो ग्रंथों की भाषा डिंगल है। भाषा की दृष्टि से डिंगल का साहित्य बडडा अव्यवस्थित है। डिंगल राजस्थान के चारणों की भाषा है। अमीर खुसरो ने खड़ीबोली में रचनाएँ लिखी। तत्कालीन जन-भाषा के वास्तविक रूप का दर्शन खुसरो की पहेलियों और मुकरियों में ही मिलता है। इसमें वर्तमान खड़ीबोली के प्रारंभिक रूप के दर्शन होते हैं। उस काल में प्रधानता पद्य की ही थी। गद्य के दर्शन गोरखनाथ की कुछ पुस्तकों, तत्कालीन राजाओं के ताम्रपत्रों और शिलालेखों आदि में होते हैं। आदिकाल भाषा का संक्रांति काल था। अपभ्रंश से विकसित होकर हिन्दी अपना रूप सुधार रही थी। इस काल की भाषा के संबंध में हजारीप्रसाद द्विवेदीजी लिखते हैं कि, "जिन पुस्तकों के आधार पर उस काल की भाषा-प्रवृत्ति का कुछ आभास पाया जा सकता है उनकी संख्या बहुत थोड़ी है। कुछ पुस्तकों की भाषा इतनी परिवर्तित है कि उनके विषय में कुछ विचार करना अनुचित मालूम पडता है। " इस कथन से हिन्दी के आदिकाल की भाषा संबंधी व्यवस्था पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। ग्रंथों के महत्व का प्रतिपादन करते हुए द्विवेदीजी कहते हैं कि, "इन ग्रन्थों का महत्व इतना ही है कि इन्होंने हमारे साहित्य के आदि भाग का निर्माण और भविष्य की रचनाओं केलिए निर्देश किया है। "ये ग्रंथ हिन्दी-साहित्य के आदिकाल की भावपूर्ण पूँजी के रूप में अपनी उचित प्रतिष्ठा बनाए हुए हैं।

4.2. प्रमुख कवि और उनके ग्रंथ

आरंभिक कालीन लोकिक साहित्य के अंतर्गत कुछ ऐसी रचनाओं की गणना की जाती है, जो उपलब्ध हैं और उनके रचयिताओं के संबंध में कुछ ज्ञात है, किंतु पाठ, काल, तिथियों आदि की दृष्टि से उनमें अनेक संदेहात्मक अंश हैं। कवियों ने अत्यंत प्रभावपूर्ण शैली तथा वाणी में साहित्य की रचना की। आदि काल से संबंधित जो वीरगाथात्मक कृतियाँ मिलती हैं, उन्हें 'रासो' कहा जाता है। इन वीरगाथाओं के प्रमुख कवि और उनके ग्रंथों की चर्चा निम्नांकित है।

4.2.2. दलपति विजय-खुमान रासो

दलपति विजय के नाम से 'खुमान रासो' नाम ग्रंथ प्राप्त है। इसमें के राजा खुमान द्वितीय का वर्णन है, किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि यह प्रति प्रामाणिक नहीं है, क्योंकि इसमें प्रक्षिप्त अंश की प्रधानता है। इसमें महाराणा प्रताप तक का वर्णन मिलता है। खुमान द्वितीय का समय विक्रमी सम्वत् 870 के लगभग माना जाता है, जबकि महाराणा प्रताप 4वीं शताब्दी में हुए। इस प्रकार इसमें 800 वर्ष से अधिक वर्णन मिलता है। आचार्य शुक्ल का मत है कि इसमें 9वीं सदी के चित्तौड़-नरेश खुमान के विभिन्न युद्धों का वर्णन किया गया है यह ग्रंथ वस्तुतः एक राजवंश का इतिहास जैसा है। कुछ विद्वानों का मत है कि संभवतः इसकी रचना 9वीं सदी में ही दलपति विजय नामक दरबारी कवि द्वारा की गयी हो और कालांतर में उसके परवर्ती विभिन्न दरबारी कवियों द्वारा इसमें उस राजवंश के परवर्ती शासकों का विवरण जोड़ा जाता रहा हो और यह क्रिया 18वीं सदी के मध्य तक चलती रही हो। मोतीलाल मेनारियाजी इसके रचयिता दलपति विजय को 9वीं सदी के चित्तौड़-नरेश रावल खुमान का समकालीन न मान, 18वीं सदी के जैन-साधु दलपत विजय की कृति मानते हैं। साथ ही, उनका यह भी कहना है कि इस ग्रंथ में जिस रावल खुमान का विस्तृत वर्णन किया गया है, वह कोई खुमान नामक राजा नहीं था। यह 'खुमान' या 'खुम्माण' तो चित्तौड़ के राजाओं की एक पदवी थी। इसी कारण इसमें चित्तौढ़ वंश के आदि पुरुष बाषा रावल से लेकर महाराणा संग्रामसिंह द्वितीय तक का इतिहास वर्णित है।

'खुमान रासो' पाँच हजार छन्दों का विशाल ग्रंथ है। इसमें युद्ध, विवाह, नायिका भेद, षट्ऋतु आदि के विस्तृत विवरण दिये गये हैं। अन्य रासो ग्रंथों की तरह इसमें भी श्रृंगार और वीरगाथा-दोनों रस प्रधान रहे हैं। इसमें दोहा, सवैया, कवित्त आदि विविध छंदों का सुचारु प्रयोग हुआ है। कवि ने बीच-बीच में पृथ्वीराज राठौड़, सुन्दरदास, बिहारी आदि की उक्तियों का भी समावेश किया है। इन रीतिकालीन कवियों का उद्धृत किया जाना इस बात का प्रमाण है कि इसके बहुत छन्द 18वी सदी में रचे गये और इसमें जोड़ दिये गये थे। भाषा की दृष्टि से इसकी भाषा राजस्थानी रही है। काव्य-सौंदर्य, भाषा-शैली आदि की दृष्टि से इसे सरस और सफल काव्य माना जाता है। इसकी भाषा का जो रूप मिलता है, उसके आधार पर तो इसे प्राचीन कृति नहीं मानते। इसकी भाषा-शैली का उदाहरण निम्नलिखित है –

" पिउ चित्तदौड़ न आविऊ, सावण पहली तीज।
जोवै बाट विरहिणी, खिण-खिण अणवै खीज। ।
संदेशो पिण साहिबा, पाछो फिरिय न देह।
पंछी घाल्या पींजरे, छुटण रो सन्देह। ।"

इस ग्रंथ की प्रामाणिकता के संबंध में सभी इतिहास-लेखकों को संदेह रहा है। केवल 'हरिऔध' जी का यह मत है कि प्रक्षिप्त अंश होने पर भी उसमें प्राचीन अंश है और उसकी भाषा भी प्राचीन है।

4.2.3. नरपति नाल्ह-बीसलदेव रासो

यह सर्वप्रथम वीर-गीतिकाव्य माना जाता है। इसमें बीसलदेव (विग्रहराज चतुर्थ) का वर्णन है। बीसलदेव रासो का रचना काल भी विवादग्रस्त है। यह एक छोटा-सा प्रबन्धात्मक गीति-काव्य है। इसमें नरपति नाल्ह ने बीसलदेव के वीर-चरित्र का वर्णन न कर उनके विलास और विरह का वर्णन किया है। इसलिए कुछ विद्वान् इसे वीर-काव्य न मानकर श्रृंगार-रस का ग्रंथ मानते हैं। कतिपय ऐतिहासिक असंगतियों के कारण कुछ विद्वानों ने इसे भी संदिग्ध रचना घोषित किया है। कवि नाल्ह ने ग्रंथ में रचना-तिथि भी दी है-

"बारह सौ बहोत्तराहां मंझारि। जेठ बदी नवमी बुधवारि। ।

नाल्ह रसायन आरंभई। सारदा तूठी ब्रह्म कुमारि। ।

कासमीरां मुख मंडनी। रास प्रगासों बीसल दे राई। ।"

इसके अनुसार इस ग्रंथ का लिखना ज्येष्ठ (कृष्ण) नवमी, बुधवार से 1212 में आरंभ किया गया। समें कवि ने वर्तमान कालिक क्रियाओं का प्रयोग किया है, जिससे यह प्रकट होता है कि कवि अपने चरित नायक, इतिहास प्रसिद्ध नरेश, बीसलदेव का समकालीन था। ऐतिहासिक प्रमाणों के अनुसार राजा भोज बीसलदेव से 110 वर्ष पूर्व हुआ था, परंतु इस ग्रंथ में बीसलदेव और राजा भोज की कन्या राजमती के विवाह का वर्णन किया गया है। यह देखकर विद्वानों का कथन है कि यदि नरपति नाल्ह बीसलदेव का समकालीन था तो उससे ऐसी भूल का होना असंभव माना जायेगा। बीसलदेव अपने समय का प्रतापी राजा था। उसके खुदवाये गये अनेक शिलालेख मिले हैं, किंतु उनमें यह उल्लेख कहीं नहीं मिलता कि उसने कभी उडडीसा पर चढ़ाई की थी और वहाँ 12 वर्ष तक रहा था। इस ग्रंथ में बीसलदेव के उड़ीसा पर चढ़ाई करने और वहाँ 12 तक रहने का वर्णन किया गया है। ऐसी अन्य अनेक ऐतिहासिक असंगतियाँ देखकर विद्वानों ने इसे संदिग्ध ग्रंथ घोषित किया था। डॉ. माताप्रसाद गुप्त ने इस ग्रंथ की विभिन्न प्राचीन प्रतियों के आधार पर इसे सम्वत् 1400 की रचना माना है। कुछ विद्वान् इसके चरित-नायक बीसलदेव को 11 वीं सदी का विग्रहराज मानते हैं। भाषा की दृष्टि से यह निश्चित होता है कि यह कृति हिन्दी के आरंभिक युग की ही रचना है, न कि 16वीं सदी की। कुछ विद्वानों ने इसकी भाषा को परिनिष्ठित अपभ्रंश माना है। डॉ. रामकुमार वर्मा इसकी भाषा पर अपभ्रंश का गहरा प्रभाव मानते हुए कहते हैं कि "बीसलदव रासो का व्याकरण अपभ्रंश के नियमों का पालन कर रहा है। कारक, क्रियाओं और संज्ञाओं के रूप अपभ्रंश भाषा के ही हैं। अतएव भाषा की दृष्टि से इस रासो को अपभ्रंश भाषा से सद्यः विकसित हिन्दी का ग्रंथ कहने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं होनी चाहिए। " आचार्य शक्ल ने इसकी भाषा को साहित्यिक हिन्दी अर्थात् व्रजभाषा से भिन्न, जिसमें बीच-बीच में साहित्यिक हिन्दी को मिलाने का प्रयत्न कहा है। वे इसकी भाषा को राजस्थानी मानते हैं। डॉ.दयानंद श्रीवास्तव इसकी भाषा को परवर्ती अवहट्ठ काल की भाषा मानते हैं। यह रचना भाषा के संक्रान्तिकाल की रचना है इसलिए इसमें उस काल की पुरानी परिनिष्ठत

अपभ्रंश और नई उभरती व्रजभाषा, गुजराती और राजस्थानी के रूपों का मिश्रण हो जाना सर्वथा स्वाभाविक था।

कुछ विद्वानों की यह धारणा है कि यह ग्रंथ अपने मूल रूप में एक गेय काव्य था। गेय-काव्य होने के कारण ही इसके भाषा-रूप में परिवर्तन होता चला आया होगा। काव्य-सौंदर्य की दृष्टि से 'बीसलदेव रासो' एक अत्यंत सुंदर, रससिक्त रचना है। इसकी विशेषता यह है कि यह हिन्दी के अन्य रासो-ग्रंथों के समान वीरता का गायन न होकर कोमल प्रेम के मधुर, मार्मिक और संवेदनशील रूप का अमर चित्र है। विप्रलंभ श्रुंगार इसका प्रधान वर्ण्य-विषय है। चार खंडों में विभाजित सवा सौ छन्दों का यह छोटा-सा काव्य प्रणय-संवेदना का हृदयग्राही रूप प्रस्तुत करता है। "बीसलदेव रासो" रासो-काव्य-परम्परा का प्रतिनिधि काव्य है। इसमें रासो काव्यों की सभी प्रधान विशेषताएँ उपलब्ध होती हैं। विरह इसका प्रमुख स्वर रहा है। यद्यपि इसे एक सुनियोजित कथा में आबद्ध किया गया है, परन्तु उस कथा में भी यह ललित मुक्तकों का कलामय, उदात्त, प्रभावपूर्ण रूप प्रस्तुत करने में पूर्णतः समर्थ है। यह 'संदेश ससक' के समान कोमल विरह काव्य है। अपने मूल रूप में यह एक प्रेमगीत है, जिसका विकास विरह की संवेदना द्वारा हुआ है। बीसलदेव और राजमती के विवाह के कुछ समय के उपरांत राजमती के एक व्यंग्य से आहत और रुष्ट हो बीसलदेव उड़ीसा चला जाता है और 12 वर्ष के बाद अजमेर लौटता है और यही 12 वर्ष का वियोग विरह की अजस्र धारा के रूप में प्रवाहित होता है। कवि 'बारह मासा' के रूप में प्रकृति का उद्दीपनकारी रूप अंकित करता है। परन्तु इस अंकन में कवि प्रकृति के उन्मेष की अपेक्षा नायिका की संवेदना को ही प्रधान रूप से अंकित करता है। राजमती की वेदना उसकी असमर्थता में और अधिक कारूणिक हो उठती है। वह नारी-जीवन के दैन्य और विवशता की प्रतिमा-सी बन, कह उठती है –

"अस्त्रीय जनम काइं दीधउ महेस।
अवर जनम थारई घणा रे नटेस।
रानि न सिरजीय रोझड़ी।
घणह न सिरजीय धउलीय गाइ।

वनषंड काली कोइली।

हउं बहसती अंबा नइ चम्पा की डाल।

भषती दाष बीजोरड़ी।

इणि दुष झूरइ अवलाजी बाल। "

विरह के मार्मिक चित्रों ने इस काव्य को अपूर्व गरिमा प्रदान की है। विरह की सूक्ष्म अनुभूतियाँ इस काव्य के आकर्षण हैं। सरल भाषा में कवि नारी हृदय की वेदना, उसकी विवशता और असहायता का चित्रण करता है, जिसका अधिक प्रस्फुटित रूप जायसी व सूर में प्राप्त होता है।

4.2.4. नल्हसिंह भाट-विजयपाल रासो

इस ग्रंथ में विजयपाल सिंह और पंग राजा के युद्ध का कवि नल्हसिंह ने वर्णन किया है। इतिहास के अनुसार इसकी रचना सम्वत् 1043 में होनी चाहिए, किंतु मिश्रबन्धुओं ने इसका रचनाकाल सम्वत् 1355 माना है। अन्य विद्वान् भाषा और शैली की दृष्टि से इसे 16वीं सदी की कृति मानते हैं। इसकी भाषा परवर्ती अपभ्रंश और आरम्भिक हिन्दी के संक्रान्तिकाल की भाषा है। 'विजयपाल रासो' में केवल 42 छन्द ही उपलब्ध हैं। इसलिए इसके संबंध में विशेष रूप से कुछ नहीं कहा गया है।

4.2. 5. पुष्य

कुछ लोग इनको हिन्दी का आदि कवि मानते हैं, किन्तु इस विषय में कोई प्रामाणिक उल्लेख नहीं मिलता। इनका आविर्भाव सं. 700 के लगभग माना जाता है, परंतु इनकी कोई भी रचना उपलब्ध नहीं है।

4.2.6. भुवाल

इनका आविर्भाव विक्रम की 10वीं शताब्दी में माना जाता है। इन्होंने भगवद्गीता का अनुवाद दोहे-चौपाइयों में किया था। इनका एक छन्द प्राप्त है, जिसमें इन्होंने ग्रंथ-रचना की तिथि दी है –

"संबत कर अब करौं बखाना, सहस् सो अम्पूरन जाना।

माघ मास कृष्ण पक्ष भयऊ, दुतिया रवि तृतीय जो भयऊ। ।"

कवि के कथन के नुसार रचनाकाल सम्वत् 1000 माघ कृष्ण पक्ष की द्वितीय तथा तृतीय एवं रविवार हुआ, किंतु गणना करने पर यह तिथि ठीक नहीं मिलती। अनुमान से इसकी तिथि 1000 कही जा सकती है, क्यों कि छन्द और भाषा के अनुसार यह रचना 10 वीं शताब्दी की ही प्रतीत होती है।

4.2.7. मोहनलाल द्विज

इन्होंने रचनाकाल 1247 दिया है –

"सुनो कहै यह संवत् जानो।

बारह सानौ सैता मानौ।।"

किंतु भाषा की आधुनिकता के कारण यह रचना प्राचीन प्रतीत नहीं होती। कवि ने मंगलाचरण भी उन शब्दों में किया है, जिन शब्दों में केशव ने किया है। अर्थात् ये दोनों कवि परस्पर एक दूसरे से प्रभावित दिखाई देते हैं। यह भी अनुमान किया जाता है कि केशव जैसे महान् कवि क्योंकर इनके शब्दों को चुनता। अतः मोहनलाल केशव के बाद के कवि प्रतीत होते हैं। इन्होंने 'उचिला' नामक ग्रंथ की रचना की, जिसमें अनेक भोजनों का वर्णन किया गया है।

4.2. 8. श्रीधर-रणमल्ल छन्द

श्रीधर कृत 'रणमल्ल छन्द' में ईडर के राठौर राणा रणमल्ल का वर्णन है। यह चौदहवीं शदाब्दी के लगभग अंत की रचना मानी जाती है। इस कृति की भाषा वीरगाथाकालीन शैली की ही भाँति है। एक उदाहरण निम्नांकित है, जिससे भाषा-शैली का परिचय परिचय प्राप्त होता है –

" ढमढमइ ढमढमकार ढकर ढोल ढोला जंगिया ;

सर कराई रणसहणाइ समुहाइ सरस सरस रसि समरंगिया। ।"

4.2. 9. भट्टकेदार, मधुकर कवि-जयचन्द प्रकाश, जयमयंक जसचन्द्रिका

उक्त ग्रंथों का समय बारहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जाता है। इन दोनों ग्रंथों का संबंध जयचन्द से है। इनमें दूसरा ग्रंथ उपलब्ध नहीं है।

4.2.10. जगनिक - आल्हखण्ड

'आल्हखण्ड' को 'परमाल रासो' भी कहा जाता है। इसके रचयिता महोबा के राजा परमाल (परमर्दिदेव) के राजकवि जगनिक हैं। यह प्राचीनकाल से गेयकाव्य रहा है। अतः सके आज के रूप में प्राचीनता की झलक नहीं मिलती। बुन्देलखण्ड और महोर्ब में तो आज तक इसकी प्रसिद्धि पायी जाती है। बरसात के आरंभ में अब भी ग्रामीण प्रदेशों में आल्हा गायी जाती है। इस ग्रंथ से पता चलता है कि उस समय युद्ध की कितनी महानता थी। युद्ध भी विवाह के लिए हुआ करते थे-

"जोहि की बिटिया सुन्दर देखी, तेही पर जाय धरे हथियार। "

इससे स्पष्ट होता है कि युद्ध किन कारणों से भी छिडड़ते थे। आल्ह खण्ड में श्रृंगार और वीरगाथा रस का सुन्दर समन्वय हुआ है। इसमें तत्कालीन परिस्थितियों का सुंदर चित्रण किया गया है। प्रचार की दृष्टि से आदिकाल के ग्रंथों में यह सर्वश्रेष्ठ है। इसमें महोबा के दो वीरों-आल्हा और ऊदल-की वीरता का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन है। युद्धों के चित्रों के अतिरिक्त भावुकतापूर्ण स्थल भी पाये जाते हैं। एक स्त्री कहती है –

"कारी बदरिया बहना हमारी, कौधा बीरन लगे हमार।
आज बरसि जा मेरी कनवज में कंत एक रैनि रहि जाय। "

किन्तु आल्हा की भाषा प्रांतों के अनुसार बदलती हुई पाई जाती है। वर्णनों में साहित्यिक सौन्दर्य कम है। ग्रंथ में आल्हा और ऊदल के वीर कृत्यों के अतिरिक्त उनके सुलखे, लाखन आदि भाइयों का भी वर्णन है। 'आल्ह खण्ड' में उन वीर भाइयों के विवाहों और प्रायः बाबन लड़ाइयों का उल्लेख है। स्वयं परमाल तो भीरु और अशक्त राजा था, किंतु उसकी पत्नी मल्हना इन्हीं वीर सामंतों की सहायता से कई बार पृथ्वीराज के आक्रमणों तक को विफल करने में समर्थ हुई थी। अंत में अत्यंत करुणाजनक दृश्य उपस्थित किया गया है।

बनाफर युद्ध में सभी वीर मारे जाते हैं और रानियाँ सती हो जाती हैं। केवल दो व्यक्ति आल्हा और उसका पुत्र इंदल बचे रहते हैं। वे गृह-परित्याग कर किसी कजरी बन में जा बसते हैं। इस ग्रंथ के संबंध में उल्लेखनीय तथ्य यह है कि इसकी कोई भी प्राचीन प्रति उपलब्ध नहीं हो पायी है। सन् 1865 में चार्ल्स इलियट नामक विदेशी विद्वान ने मौखिक परस्परा के आधार पर इसका सपादन कर इसे 'आल्ह खंड' के नाम से प्रकाशित कराया था। तदनन्दर डॉ.श्यामसुंदर दास ने इसका संपादन कर इसे 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' के तत्वावधान में प्रकाशित किया था। आरंभ में इस ग्रंथ को एक स्वतंत्र ग्रंथ न मान 'पृथ्वीराज रासो' का ही 'महोबा खंड' शीर्षक एक अंश माना जाता था। परंतु डॉ.श्यामसुंदर दास ने इसे अस्वीकार करते हुए इसे एक स्वतंत्र ग्रंथ मानकर इसका नाम 'परमाल रासो' रखा। उनका मन्तव्य इस प्रकार है - "किंतु वास्वत में यह 'पृथ्वीराज रासो' का 'महोबा खंड' नहीं है-वरन् उसमें वर्णित घटनाओं को लेकर-मुख्यतः 'पृथ्वीराज रासो' में दिए हुए एक वर्णन के आधार पर-लिखा हुआ एक स्वतंत्र ग्रंथ है। यद्यपि इस ग्रंथ का नाम मूल प्रतियों में 'पृत्वीराज रासो' दिया हुआ है, पर उसके नाम से प्रकाशित करना लोगों को भ्रम में डालना होगा। अतएव मैं ने इसे 'परमाल रासो' नाम देने का साहस किया है। " इस मन्तव्य से यह ध्वनित होता है कि इस ग्रंथ को 'परमाल रासो' नाम डॉ.श्यामसुंदर दास ने दिया था और पहले यह 'महोबा खंड' के नाम से प्रसिद्ध था। परंतु डॉ.माताप्रसाद गुप्त इसे 'पृथ्वीराज रासो' का 'महोबा खंड' ही मानते हैं और प्रमाण के लिए उन्होंने 'परमाल रासो' के अंतिम छंदों की तुलना कर उनमें परस्पर अत्यधिक साम्य दिखाया है।

विद्वानों ने 'परमाल रासो' अथवा 'आल्हखंड' को विकसनशील लोकमहाकाव्य माना है। इसकी जनता में अत्यधिक लोकप्रियता को देख डॉ.ग्रियर्सन ने इसे वर्तमान युग का सर्वाधिक लोकप्रिय महाकाव्य माना था। यह काव्य विकसनशील होते हुए भी 'पृथ्वीराज

रासो' से भिन्न प्रकार का काव्य है। यह सदैव गायकों की परंपरा द्वारा ही विकसित होता रहा है। डॉ.शम्भूनाथ सिंह इसका प्रधान उद्देश्य 'मनोरंजन' मानते हैं। उनका कहना है कि इसमें विशुद्ध वैयक्तिक वीरता, स्वाभिमान, दर्प और साहसपूर्ण कार्यों का वर्णन किया गया है। वस्तुतः इस काव्य का मूल रूप लोक-कथा की गीतात्मक परंपरा का ही रहा। भाषा की दृष्टि से इसे वैसवाड़ी बोली की रचना माना गया है। परंतु आज यह जिस रूप में प्रचलित है, वह भाषा के आधुनिक रूम में ही है। इसकी मूल प्रेरणा वीर-भावना की रही है।

इसकी इस मूल-भावना और भाषा-रूप का उदाहरण निम्नांकित है-

"सदा तरैया ना बन फूलै, यारो सदा न सावन होय ।
स्वर्ग मढ़ैया सब काहूँ को, यारो सदा न जीवै कोय। "

इस ग्रंथ में ऐतिहासिता अप्रामाणिक होने पर भी 'आल्ह खंड' तत्कालीन पारस्परिक विद्वेष का चित्र पस्तुत करता है। जगनिक की इस रचना का और एक उदाहरण इस प्रकार है –

" पैदल के सँग पैदल भिड़िगे औ असवारन से असवारन। ।
हौदा के संग हौदा मिल गये हाथिन अड़ौ दाँत से दाँत। ।"

x x x x x x x x

कटि भुजडंडै रतपूतन की चहरा कटे सिपाहिन क्यार। ।
कटै भुश्रडा जब हाथिन के भुँइ में गिरैं भरहरा खाय। ।"

4.2. 11. शारंगधर-हम्मीर रासो

कवि शारंगधर का समय 14 वीं शताब्दी के लगभग है। इनके द्वारा रचित 'हम्मीर रासो' में हम्मीर का अलाउद्दीन के साथ भयंकर युद्ध का वर्णन है, परंतु इसकी प्रामाणिकता के संबंध में कोई प्रमाण पाया नहीं जाता। इसकी भाषा से यह और भी अर्वाचीन सिद्ध होता है। इसमें जयचन्द सूरी का नाम भी आता है, जिसका आविर्भाव-काल सम्वत् 460 के लगभग माना जाता है। कवि ने हम्मीर के यश का वर्णन किया है किंतु 'हम्मीर रासो' अभी तक एक

स्वतंत्र कृति के रूप में उपलब्ध नहीं हो सका है। अपभ्रंश के 'प्राकृत पैंगलम्' नामक एक संग्रह-ग्रंथ में संग्रहीत हम्मीर षयक 8 छन्दों को देख आचार्य शुक्ल ने इसे एक स्वतंत्र ग्रंथ माना था। इसग्रंथ के रचयिता शारंगधर माने जाते हैं। परंतु कुछ पदों में 'जज्जल भणह' वाक्यांश को देख राहुलजी ने इन्हें जज्जल नामक किसी कवि के रचे छन्द माना है, जैसे-

"हम्मीर कज्जु जज्जल भणह कोणाहल मुह मह जलए। "

डॉ.हजारीप्रसाद द्विवेदी का कहना है कि 'प्राकृत पैंगलम्' की टीका में भी इन्हें जज्जल की ही उक्ति माना गया है। अर्थात् इसके रचयिता शारंगधर ने होकर जज्जल हैं। लेकिन कुछ आलोचकों ने जज्जल को हम्मीर का मंत्री सिद्ध कर यह मत प्रकट किया है कि इन छन्दों में हम्मीर की वीरता का वर्णन न होकर जज्जल की वीरता का उल्लेख किया गया है। यदि शारंगधर को इसके रचयिता और हम्मीर का समकीन माना जाय तो इसकी रचना सम्वत् 1350 के आसपास होनी चाहिए। परंतु इसकी अव्यवस्थित परवर्ती भाषा को देखकर कुछ विद्वान इसे 16वीं सदी के आसपास की रचना मानते हैं।

4.2.12. चन्दबरदाई-पृथ्वीराज रासो

चन्दबरदाई वीरगाथा काल के प्रसिद्ध कवि हैं। इनके द्वारा रचित 'पृथ्वीराज रासो' नामक ग्रंथ उपलब्ध होता है। इसमें कवि ने अपना जीवन-वृत्त दिया है, जिसके आधार पर कहा जाता है कि वे भट्ट जाति के जगात नामक गोत्र के थे। ये प्रसिद्ध पृथ्वीराज के मित्र तथा सेनापति थे। यह भी कहा जाता है कि उनका जन्म लाहौर में हुआ था और पृथ्वीराज व चन्द बरदाई का जन्म एक ही दिन हुआ था। वे जीवन भर पृथ्वीराज के सखा और सामन्त रहे। किम्वदन्ती है कि उन्हें जालंधरी देवी का इष्ट था। ये व्याकरण, काव्य, साहित्य, ज्योतिष, पुराण तथा नाटक आदि सब में पारंगत थे . चन्द बरदाई और पृथ्वीराज की जीवन-घटनाओं में काफी समानता थी। जनश्रुति है कि इनका जन्म और मृत्यु साथ-साथ हुई थी। 'पृथ्वीराज रासो' ग्रंथ में 2500 से अधिक पृष्ठ हैं। इसमें कवि ने पृथ्वीराज का सारा वृत्तांत दिया है। वे

'रासो' को पूरा नहीं कर पाये थे, उसे बीच में ही छोड़कर वे युद्धक्षेत्र में गये थे। शेष 'रासो' को उनके पुत्र जल्हण ने समाप्त किया था। यह निम्नलिखित पंक्ति से स्पष्ट होता है-

"पुस्तक जल्हण हत्य दै, चलि गज्जन नृप काज।

4.2.13. विद्यापति

इसका जन्म बिहार के दरभंगा जिले के विसपी नामक ग्राम में संवत् 1427 में हुआ था। साहित्य में अपनी सरसता और लालित्य के कारण ये मैथिल-कोकिल के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये तिरहुत के राजा शिवसिंह के आश्रित कवि थे। हिन्दी के गीति-काव्यकारों में विद्यापति का अत्यंत उच्च स्थान है। आरंभिक काल में केवल एक ही रचना ऐसी मिलती है जो मैथिल-भाषा में लिखी गई है और यह रचना है विद्यापति की 'पदावली'। इसका वर्ण्य-विषय प्रधान रूप से राधा-कृष्ण की प्रेम-लीला का वर्णन करना है और यह प्रेम-लीला का चित्रण घोर लौकिक माना जाता है। इनकी कविता इतनी लोकप्रिय हुई कि बंगाली, बिहारी और हिन्दी प्रदेश के लोग इन्हें अपना-अपना कवि सिद्ध करने लगे। विद्यापति ने तीन भाषाओं में ग्रंथ रचे-संस्कृत, अपभ्रंश और मैथिली। संस्कृत में भू-परिक्रमा, पुरुष परीक्षा, शैवसर्वस्वसार, गंगा वाक्यावली, दुर्गाभक्ति तरंगिणी, शैवसर्वस्वसार प्रमाणभूत पुराण संग्रह, लिखनावली, दान वाक्यावली, विभाग सार, गचया पत्तलक, वर्म कृत्य आदि ; अपभ्रंश में कीर्तिलता, कीर्तिपताका और शिवसिंह चरित्र ; मैथिली में पदावली और गौरक्षविजय नामक नाटक। परंतु हिन्दी-साहित्य में उनकी गणना उनकी 'पदावली' के कारण की जाती है। मैथिली की प्रकृति बंगला भाषा की अपेक्षा अवधि से अधिक मिलती है। इसी आधार पर मैथिली को हिन्दी की विभाषा माना गया है। उपर्युक्त सभी रचनाओं के शीर्षकों से व्यंजित विषयों तथा तीन साहित्यिक भाषाओं में रचित ग्रंथों के आधार पर यह निष्कर्ष सहज ही निकलता है कि विद्यापति विद्वान्, महान पंडित, कई भाषाओं में समान अधिकार रखनेवाले अत्यंत उच्चकोटि के कलाकार थे। संस्कृत में रचित उनके ग्रंथ शैव मतावलंबियों में पर्याप्त लोकप्रिय

हैं। विद्यापति ने 'कीर्तिलता' के प्रथम पल्लव में अवहट्ट भाषा की प्रशंसा करते हुए निम्नलिखित पंक्तियाँ लिखी हैं –

"देसिल बअना सब जन मिट्ठा।

तें तैसन जन्पओ अवहट्टा। ।"

अर्थात् - "देशी वचन सब लोगों को मीठे लगत हैं। इसलिए मैं अवहट्ट में रचना कर रहा हूँ।"

कवि ने अपनी अवहट्ट रचनाओं में अपने आश्रयदाता राजा कीर्तिसिंह का यशोगान करते हुए एक आरंभिक कालीन वीर-काव्य की परंपरा का अनुगमन किया है और दूसरी ओर लोकभाषा मैथिली में पदों की रचना कर श्रुंगार और भक्ति की अबाध धारा प्रवाहित की है। इस दृष्टि से उन्हें श्रुंगार और भक्ति-धाराओं का हिन्दी का आदिकवि माना जाता है। उनकी 'पदावली' का मूल स्वर तो श्रुंगार का ही रहा है, किंतु कुछ पदों में शिव-भक्ति संबंधी उद्गारों का मार्मिक अंश है। उनके श्रुंगारी पद राधा-कृष्ण को नायिका-नायक मानकर रचे गये हैं और शिव, दुर्गा, गंगा आदि से संबंधित भक्ति पूर्ण पद श्रुंगार-भावना से सर्वथा मुक्त रहे हैं। विद्यापति के संबंध में विवादास्पद बात यह हरै कि कुछ लोग उन्हें भक्त-कवि मानते हैं और कुछ श्रुंगारी कवि। कुछ लोगों ने उनके राधा-कृष्ण संबंधी पदों को भक्ति-रस के पद मानकर. उन्हें परम वैष्णव-भक्त माना है और इसका प्रमाण यह देते हैं कि इन पदों को गाते-गाते महाप्रभु चैतन्य मूर्च्छित हो जाया करते थे। इसके विपरीत कुछ लोगों की यह धारणा रही है कि 'पदावली' के राधा-कृष्ण संबंधी पद मांसल श्रुंगार के कलात्मक पद हैं, जिनमें केवल श्रुंगार का ही सौंदर्य मिलता है, न कि भक्ति की तन्मयता। इन लोगों का यह भी कहना है कि विद्यापति वैष्णव न होकर शैव थे। इसीलिए उनकी शिव-स्तुति या दुर्गा-स्तुति में भक्ति-भवना की गहनता मिलती है। उनके पदों को तीन वर्गों में बाँटते हैं-श्रुंगारिक भक्तिरसात्मक और विविध विषयत। काल-क्रम के हिसाब से विद्यापति की गणना आदिकाल के अंतर्गत की जाती है, किंतु रचना के आधार पर इन्हें भक्ति और रीतिकालीन कवियों की श्रेणी में रखा जाता है। कवि ने श्रुंगार-वर्णन में संयोग के ऐसे मादक चित्र अंकित किए हैं, जिनमें कुंठाहीन

उन्मुक्त सुख-भोग अपने संपूर्ण सौंदर्य, मादकता और प्रभाव के साथ सजीव और साकार हो उठा है। उन्होंने यौवन के, श्रृंगार के अत्यंत मनोरम चित्र अंकित किए हैं। नायिका की वयः सन्धि अवस्था से लेकर पूर्ण यौवनवती रूप तक के विभिन्न चित्र अत्यंत सुंदर हैं। उनका यह काव्य एक पूर्व परंपरा का ही विकसित रूप है। विद्यापति से पूर्व हाल की 'गाहा सत्तसई' में राधा-कृष्ण की प्रेम-क्रीड़ाओं-संबंधी ऐसे ही पद मिलते हैं। विद्यापति से कुछ समय पूर्व जयदेव 'गीत गोविंद' में इन्हीं की परंपरा का अनुगमन किया था। इसी कारण उनमें भी जयदेव के समान 'विलास-कुतूहल' की प्रबल भावना मिलती है। उन्होंने नायिका के नख-शिख, सद्यः स्नाता, मानवती, मिलनातुर, मिलन की स्मृतियों में डूबी, विरह से व्यथित आदि विभिन्न रूपों का अंकन किया है। उनका सद्यः स्नाता का चित्र निम्नांकित है –

"कामिनि करए सनाने
हेरइते हृदय हनए पचवाने।
चिकुर गरए जलधारा
मुख शशि डरे जनि रोअए अंधारा। तितल वसन तनु लागू
मुनिहुक मानस मनमथ जागू। "

विद्यापति के ऐसे पद इतने अधिक लोकप्रिय हैं कि परवर्ती हिन्दी-साहित्य में इस पद-परंपरा के रूप में एक श्रेष्ठ साहित्य के दर्शन होते हैं। उनके परवर्ती कृष्ण-भक्त कवियों ने इस परंपराको अपना कर राधा-कृष्ण के प्रति अपने भक्ति-भाव भरे उद्गारों को व्यक्त किया था। विद्यापति के इन पदों में कलात्मक गीतों की शिल्पविधि के साथ-साथ लोक-गीतों की सरलता, स्वाभाविकता, भावनन्मयता और स्वच्छन्दता, सहज श्रृंगार के रूप में प्रस्फुटित हुई हैं।

4.2.14. नामदेव

मराठी के प्रसिद्ध संत-कवि नामदेव ने मराठी और हिन्दी-दोनों भाषाओं में कविता की थी। यद्यपि हिन्दी में रचित इनके 70-80 पद ही उपलब्ध हैं, परंतु इन्हीं पदों के रूप में हिन्दी में विकसित संत-काव्य का पूर्व रूप मिल जाता है। नामदेव का समय 14 वीं सदी

माना गया है। उनका जन्म सम्वत् 1326 के आस-पास महाराष्ट्र के एक साधारण दर्जी परिवार में हुआ था। नामदेव के जो हिन्दी पद मिले हैं, उनका वर्ण्य-विषय लगभग वहीं रहा है जो कबीर-काव्य का रहा है। ईश्वर के प्रति दृढ़ अनुराग, माधुर्यपूर्ण भक्ति, विरह-व्यंजना, अद्वैतवादी सिद्धांत, गुरु का महत्व, मूर्तिपूजा का विरोध, जाति-पाँति का खंडन, हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रतिपादन, साधना-पक्ष में अनहद नाद एवं अलौकिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति, इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना आदि का संयमन आदि सभी कुछ वही मिलता है जो आगे चलकर संत-काव्य का मूल विवनेच्य रहा है और कबीर नामदेव से लगभग एक सदी बाद हुए थे। प्रो. देशपांडे ने मराठी भक्ति-साहित्य का विवेचन करते हुए नामदेव के संबंध में लिखा है - "उन्होंने उत्तर भारत में भक्ति मार्ग का प्रचार हिन्दु-समाज को जाति-भेद की संकीर्णता, बहुदेवोपासना का सच्चा अर्थ, धर्माडम्बर और अनावश्यक आचार-विचार के संबंध में जागृत किया। वे यथार्थ में सच्चे लोक-शिक्षक थे। उन्होंने संत कबीर, गुरू नानक जैसे परवर्ती संतों का मार्ग प्रशस्त बनाने में कुछ न उठा रखा। सचमुच वे उत्तर भारत के सांस्कृतिक एवं धार्मिक जागरण के आद्य-प्रणेता थे। " आचार्य विनयमोहन शर्मा ने भी हिन्दी को मराठी संतों की देन का विवेचन करते हुए नामदेव को हिन्दी की संत-काव्य-परंपरा का प्रवर्तक घोषित किया है। उनका तत्संबंधी वक्तव्य इस प्रकार है - "नामदेव में उत्तरी भारत के संतमत की सारी विशेषताएँ विद्यमान हैं। इसीलिए हम उन्हें उत्तर भारत में निर्गुण भक्ति मत का प्रथम प्रचारक एवं प्रवर्तक तथा कबीर आदि संतों का पथ-प्रदर्शक मानते हैं। यह सत्य है कि कबीर के समान नामदेव की हिन्दी रचनाएँ प्रचुर मात्रा में नहीं मिलती, परंतु जो कुछ प्राप्त हैं, उनमें उत्तर भारत की संत-परंपरा का पूर्व आभास मिलता है और उनके परवर्ती संतों पर निश्चय ही उनका प्रभाव पड़ा है-जिसे उन्होंने मुक्त कष्ट से स्वीकार किया है। ऐसी दशा में उन्हें उत्तर भारत में निर्गुण-भक्ति का प्रवर्तक मानने में हमें कोई झिझक नहीं होनी चाहिए। " नामदेव के इस आभार को हिन्दी के परवर्ती कवियों ने स्वीकार किया हैं ; जैसे-

" नामदेव कबीर तिलोचन साधना सैनु तरै।
कह रविदास सनहु रे सत्तो, हरि जीउ ते सभै सरै। ।" रैदास

और

"नामदेव कबीर जुलाहौ, जन रैदास तिरै।

दादू बेगि बार नहीं लागै, हरि सौं सबै सरै। ।" - दादू

यहाँ यह द्रष्टव्य है कि रैदास, दादू आदि ने कबीर के साथ नामदेव का श्रद्धापूर्वक उल्लेख किया है और नामदेव का नाम कबीर से पहले लिया है। नामदेव के पद यह सिद्ध करते हैं कि उनके काव्य र हिन्दी के परवर्ती संत-कवियों के काव्य में कोई अंतर नहीं है ; नामदेव के कुछ पदों से यह स्पष्ट होता है। यथा –

"मैं बउरी मेरा राम भरतार। रचि-रचि ताकउँ करउ सिंगार।" –इसमें उनकी माधुर्यपूर्ण भक्ति और "एकै पाथर कीजै पाऊ। दूज पाथर धरिए पाऊ।

जै इहु देऊ तऊ उहु भी देवा। कही नामदेव हरि की सेवा। " इसमें मूर्ति पूजा का विरोध दर्शनीय है। नामदेव के काव्य की भाषा का जो रूप उनके पदों में झलकता है, वह निश्चित रूप से कबीर की भाषा से प्राचीन भाषा-रूप है। इस भाषा की एक विशेषता यह है कि विद्वानों ने इस पर बज, पूर्वी-हिन्दी, पंजाबी और मराठी का प्रभाव माना है। यह भाषा कबीर की सधुक्कड़ी भाषा के समान उसकी पूर्ववर्ती सधुक्कड़ी भाषा है। इस प्रकार नामदेव की हिन्दी रचनाओं में परवर्ती हिन्दी संत-काव्य की सुदृढ़ पृष्ठभूमि प्राप्त होती है।

4.2. 15. गोरखनाथ

गोरखनाथ की जन्मतिथि के विषय में मदभेद है। कोई उनका जन्म 8वीं. कोई 10वीं और कोई 11 वीं सदी में मानते हैं। डॉ.रामकुमार वर्मा तो 13वीं सदी में मानते हैं। आचार्य शुक्ल उनकी रचनाओं का समय सम्वत् 1400 के आस-पास मानते हैं। वे उनकी भाषा को 'सधुक्कड़ी' भाषा कहा है। इस भाषा का ढाँचा राजस्थानी से मिलता-जुलता है, जिसमें पंजाबी और प्राचीन खड़ीबोली का मिश्रण है। कबीर पर इस नाथ संप्रदाय का गहरा प्रभाव पड़ा था। उन्होंने इन्ही नाथपंथी योगियों से अपने खण्डनात्मक विचार लिये थे। गोरखनाथ के बाद भी यह परंपरा आगे चलती रही, जिसमें चौरंगीनाथ, चामरीनाथ, दरिया, विरूपा, करखल आदि योगी प्रसिद्ध हुए। आगे चलकर यही धारा निर्गुण-संत-काव्य-धारा में विलीन

हो गयी। गोरखनाथ की रचनाएँ संस्कृत और हिन्दी-दोनों भाषाओं में मिलती हैं। अनेक विद्वानों ने भाषा के आधार पर उनकी हिन्दी रचनाओं की परीक्षा कर यह निष्कर्ष निकाला है कि भाषा-रूप की दृष्टि से उनकी रचना 15वीं-16वीं सदी के आस-पास होनी चाहिए। परंतु डॉ.श्यामसुंदरदास का मत है कि उनकी भाषा न इतनी अरवाचीन है कि 15वीं सदी में रखी जा सके, और न इतनी प्राचीन कि 8वीं या 9वीं सदी में पहुँच जाय। गोरखनाथ के नाम से रचित ग्रंथों की संख्या लगभग 40 मानी जाती है, किंतु डॉ.बड़थ्वाल ने इनमें से 14 रचनाओं को ही गोरखनाथ रचित माना है। वे हैं-सबदी, पद, सिष्या दरसन, प्राण संकली, नरवै बोध, आत्मबेध, अभैमात्रा जोग, पन्द्रह तिथि, सप्तवार, मछीन्द्र गोरख बोध, रोमावली, ग्यान तिलक, ज्ञान चौंतीसा, पंचमात्रा। इन ग्रंथों में गुरू महिमा, वैराग्य, इंद्रिय निग्रह, प्राण-साधना, मन-साधना, कुंडलिनी जागरण, शून्य, समाधि आदि नीतिपरक और साधनापरक विषयों का विवेचन मिलता है। इन रचनाओं को साहित्य के अंतर्गत स्वीकार करने या न करने के संबंध में भी विद्वानों में मतभेद है। आचार्य शुक्ल इनमें 'जीवन की स्वाभाविक सरणियों, अनुभूतियों और दशाओ' का चित्रण न होने के कारण इन्हें केवल सांप्रदायिक रचनाएँ मानते हैं। इसके विपरीत डॉ.द्विवेदी जी इस संभावना के साथ इन्हें साहित्य के अंतर्गत स्वीकार करने का आग्रह करते हैं कि - "साहित्य की दृष्टि से, भाषा की दृष्टि से या सामाजिक गति की दृष्टि से उनमें किसी न किसी महत्वपूर्ण तथ्य के मिल जाने की सम्भावना होती ही है। " वस्तुतः साहित्य और भाषा की दृष्टि से इन रचनाओं का कोई महत्व नहीं माना जाता। उदाहरण के लिए

-हबकि न बोलिबा, ठबकि न चलिबा, धीरे धरिबा पाँव।

गरब न करिबा, सहजैं रहिबा, भणत गोरख राँव। ।"

और

"हसिबा षेलिबा रंग। काम क्रोध न करिब संग। ।

हसिबा षेसिबा गइबा गीत । दिढि करि राषि आपनां चीत। ।"

इनकी रचनाओं की भाषा भी अपने मूल रूप में नहीं मिलती। गुरु-शिष्य-परंरानुसार परिवर्तन होता रहा है। किंतु भाषा में प्राचीनता के अनेक लक्षण प्राप्त होते हैं।

4.3. समाहार

प्रस्तुत इकाई में आदिकाल के प्रमुख कवि और उनके काव्यों का विस्तृत परिचय दिया गया है, जिससे आदिकालीन उन ग्रंथों की विशेषताओं का सम्यक् जानकारी प्राप्त होती है। तदुपरांत इस काल के नामकरण से संबंधित विभिन्न विद्वानों के मत प्रस्तुत किये गये हैं। भाषा-रूपों के विकास के साथ-साथ इस युग में उन काव्य-रूपों और विचारों को भी जन्म लेते और विकसित होता हुआ देखा जा सकता है जो परवर्ती युगों में साहित्य के मूलाधार बने हैं। इस प्रकार प्रारंभिक काल में उन भाषा-रूपों और काव्य-रूपों का जन्म हो चुका था, जिन्होंने कालांतर में विकसित होकर विशाल हिन्दी-साहित्य को पल्लवित किया था। हर दृष्टि से यह काल और तत्कालीन साहित्य अत्यंत महत्वपूर्ण है।

4.4. शब्दकोश

- रासो- हिंदी कविता के विकासक्रम में वीरगाथाकाल या आदिकाल में "रासो" ग्रंथों की रचना हुई। इन ग्रंथों में तत्कालीन राजाओं की वीरता का अतिश्योक्तिपूर्ण वर्णन मिलता है। प्रमुख "रासो" ग्रंथों में पृथ्वीराज रासो, खुमान रासो, लदेव रासो इत्यादि प्रसिद्ध है। इस आधार पर "रासो" का अर्थ है- युद्ध का वर्णन।
- मैथिली कोकिल- विद्यापति (1352-1448ई) मैथिली और संस्कृत कवि, संगीतकार, लेखक, दरबारी और राज पुरोहित थे। वह शिव के भक्त थे। वे प्रेम गीत और भक्ति वैष्णव गीत भी लिखे हैं। उन्हें 'मैथिल कवि कोकिल' (मैथिली के कवि कोयल) के नाम से भी जाना जाता हैं।
- गोरखनाथ- गोरखनाथ या गोरक्षनाथ जी महाराज प्रथम शताब्दी के पूर्व नाथ योगी के थे (प्रमाण है राजा विक्रमादित्य के द्वारा बनाया गया पञ्चाङ्ग जिन्होंने विक्रम संवत की शुरुआत प्रथम शताब्दी से की थी जब कि गुरु गोरक्ष नाथ जी राजा भर्तृहरि एवं इनके छोटे भाई राजा विक्रमादित्य के समय मे थे) गुरु गोरखनाथ जी ने

पूरे भारत का भ्रमण किया और अनेकों ग्रन्थों की रचना की। गोरखनाथ जी का मन्दिर उत्तर प्रदेश के गोरखपुर नगर में स्थित है। गोरखनाथ के नाम पर इस जिले का नाम गोरखपुर पड़ा है। गोरखनाथ के शिष्य का नाम भैरोनाथ था जिनका उद्धार माता वैष्णोदेवी ने किया था। पुराणों के अनुसार भगवान शिव के अवतार थे।

- चंदबरदाई- चंदबरदाई का जन्म लाहौर में हुआ था। बाद में वह अजमेर-दिल्ली के सुविख्यात हिंदू नरेश पृथ्वीराज का सम्माननीय सखा, राजकवि और सहयोगी हो गए थे। इससे उसका अधिकांश जीवन महाराजा पृथ्वीराज चौहान के साथ दिल्ली में बीता था। वह राजधानी और युद्ध क्षेत्र सब जगह पृथ्वीराज के साथ रहे थे। उसकी विद्यमानता का काल 13वीं सदी है। चंदवरदाई का प्रसिद्ध ग्रंथ "पृथ्वीराजरासो" है। इसकी भाषा को भाषा-शास्त्रियों ने पिंगल कहा है, जो राजस्थान में ब्रजभाषा का पर्याय है। इसलिए चंदवरदाई को ब्रजभाषा हिन्दी का प्रथम महाकवि माना जाता है। 'रासो' की रचना महाराज पृथ्वीराज के युद्ध-वर्णन के लिए हुई है। इसमें उनके वीरतापूर्ण युद्धों और प्रेम-प्रसंगों का कथन है। अत: इसमें वीर और शृंगार दो ही रस है। चंदबरदाई ने इस ग्रंथ की रचना प्रत्यक्षदर्शी की भाँति की है लेकिन शिलालेख प्रमाण से ये स्पष्ट होता है कि इस रचना को पूर्ण करने वाला कोई अज्ञात कवि है जो चंद और पृथ्वीराज के अन्तिम क्षण का वर्णन कर इस रचना को पूर्ण करता है।
- आमीर खुसरो- खड़ी बोली हिंदी के प्रथम कवि अमीर खुसरो का पूरा नाम अबू अल हसन यामीन उद-दीन खुसरो था।उन्हें अमीर खुसरो देहलवी के नाम से भी जाना जाता है। खुसरो चौदहवीं सदी के सबसे लोकप्रिय खड़ी बोली हिंदी के कवि, शायर, गायक और संगीतकार थे।

  अमीर खुसरो का जन्म सन् 1235 में एटा उत्तर प्रदेश के पटियाली नाम के कस्बे में हुआ था। वे एक सूफी गायक और भारतीय विद्वान भी थे। वह एक रहस्यवादी

निजामुद्दीन औलिया शिष्य थे. ख़ुसरो को “भारत की आवाज़” या “भारत का तोता” (तुति-ए-हिंद) के रूप में भी जाना गया और उन्हें “उर्दू साहित्य का पिता” भी कहा जाता है।

4.5. प्रगति की जाँच

1. विद्यापति को_____कहा जाता है।

(अ) मैथिलि कोकिल

(आ) राजा

(इ) मंत्री

(ई) सुल्तान

2. चंदबरदाई ने _____लिखा है।

(अ) मधु मालती

(आ) संदेश रासक

(इ) पृथ्वीराज रासो

(ई) शायरी

3. _____ को ’स्वर्ण युग’ कहा जाता है।

(अ) पुनरोत्थान काल

(आ) भक्तिकाल

(इ) रीति काल

(ई) आधुनिक काल

4. _____ आदिकाल के प्रमुख कवि कहलाते हैं।

(अ) घनानंद

(आ) भगवान दास

(इ) केशवदास

(ई) पुष्पदंत

5. _____आदिकाल का कवि माना जाता है।

(अ) अमीर खुसरो

(आ) नारायण

(इ) मोहन राकेश

(ई) शबरी

4.6. बोध प्रश्न

1. 'रासो' शब्द का अभिप्राय स्पष्ट करते हुए आदिकालीन प्रमुख रासो ग्रंथों का संक्षिप्त परिचय दीजिए।
2. आदिकाल के प्रमुख कवि और उनके काव्यों का विवरण प्रस्तुत कीजिए।
3. आदिकाल के वीरगाथात्मक काव्यों की विशेषतओं की चर्चा कीजिए।
4. हिन्दी के आदिकाल की प्राप्य सामग्री और उनके महत्व पर लेख लिखिए।

4.7. सहायक ग्रंथ

1. हिंदी साहित्य का इतिहास- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल।
2. हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास- डॉ.रामकुमार वर्मा।
3. हिंदी साहित्य का उद्भव और विकास- आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी।
4. हिंदी साहित्य का इतिहास- डॉ.नगेन्द्र।
5. हिंदी साहित्य युग और प्रवृत्तियाँ- डॉ.शिवकुमार शर्मा।